सूर्यकुमारी पुस्तकमाला—६

मुद्रा-शास्त्र

लेखक—प्राणनाथ विद्यालंकार
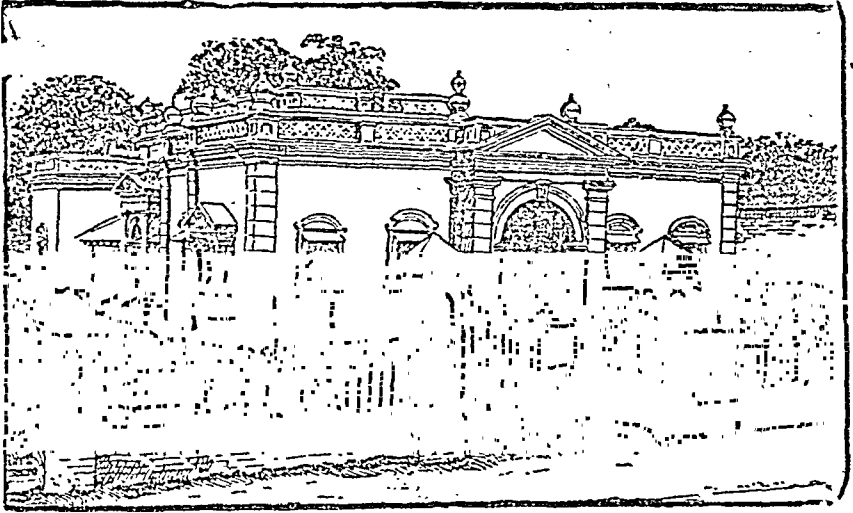
प्रकाशक

काशी नागरीप्रचारिणी सभा

संवत् १९८०] [मूल्य २॥)

परिचय

जयपुर राज्य के शेखावाटी प्रांत में खेतड़ी राज्य है। वहाँ के राजा श्रीअजीतसिंहजी बहादुर बड़े यशस्वी और विद्याप्रेमी हुए। गणितशास्त्र में उनकी अद्भुत गति थी। विज्ञान उन्हें बहुत प्रिय था। राजनीति में वह दक्ष और गुणग्राहिता में अद्वितीय थे। दर्शन और अध्यात्म की रुचि उन्हें इतनी थी कि विलायत जाने के पहले और पीछे स्वामी विवेकानंद उनके यहाँ महीनों रहे। स्वामीजी से घंटों शास्त्र-चर्चा हुआ करती। राजपूताने में प्रसिद्ध है कि जयपुर के पुण्यश्लोक महाराज श्रीरामसिंहजी को छोड़कर ऐसी सर्वतोमुख प्रतिभा राजा श्रीअजीतसिंहजी ही में दिखाई दी।

राजा श्रीअजीतसिंहजी की रानी आउआ (मारवाड़) चाँपावतजी के गर्भ से तीन संतति हुई—दो कन्या, एक पुत्र। ज्येष्ठ कन्या श्रीमती सूरजकुँवर थीं जिनका विवाह शाहपुरा के राजाधिराज सर श्रीनाहरसिंहजी के ज्येष्ठ चिरंजीव और युवराज राजकुमार श्रीउमेदसिंहजी से हुआ। छोटी कन्या श्रीमती चाँदकुँवर का विवाह प्रतापगढ़ के महारावल साहब के युवराज महाराजकुमार श्रीमानसिंहजी से हुआ। तीसरी संतान जयसिंहजी थे जो राजा श्रीअजीतसिंहजी और रानी चाँपावतजी के स्वर्गवास के पीछे खेतड़ी के राजा हुए।

इन तीनों के शुभचिंतकों के लिये तीनों की स्मृति संचित कर्मों के परिणाम से दुःखमय हुई। जयसिंहजीका स्वर्गवास सत्रह वर्ष की अवस्था में हुआ। और सारी प्रजा, सब शुभचिंतक, संबंधी, मित्र और गुरुजनों का हृदय आज भी उस आँच से जल ही रहा है। अश्वत्थामा के व्रण की तरह यह घाव कभी भरने का नहीं। ऐसे आशामय जीवन का ऐसा निराशात्मक परिणाम कदाचित् ही हुआ हो। श्रीसूर्यकुँवर बाईजी को एक मात्र भाई के वियोग की ऐसी ठेस लगी कि दो ही तीन वर्ष में उनका शरीरांत हुआ। श्रीचाँदकुँवर बाईजी को वैधव्य की विषम यातना भोगनी पड़ी और भ्रातृ-वियोग और पति-वियोग दोनों का असह्य दुःख वे झेल रही हैं। उनके

एकमात्र चिरंजीव प्रतापगढ़ के कुँवर श्रीरामसिंहजी से मातामह राजा श्री अजीतसिंहजी का कुल प्रजावान् है।

श्रीमती सूर्यकुमारीजी के कोई संतति जीवित न रही। उनके बहुत आग्रह करने पर भी राजकुमार श्रीउमेदसिंहजी ने उनके जीवन-काल में दूसरा विवाह नहीं किया। किंतु उनके वियोग के पीछे, उनके आज्ञानुसार कृष्णगढ़ में विवाह किया जिससे उनके चिरंजीव वंशांकुर विद्यमान हैं।

श्रीमती सूर्यकुमारीजी बहुत शिक्षिता थीं। उनका अध्ययन बहुत विस्तृत था। उनका हिंदी का पुस्तकालय परिपूर्ण था। हिंदी इतनी अच्छी लिखती थीं और अक्षर इतने सुंदर होते थे कि देखनेवाला चमत्कृत रह जाता। स्वर्गवास के कुछ समय के पूर्व श्रीमती ने कहा था कि स्वामी विवेकानन्दजी के सब ग्रंथों, व्याख्यानों और लेखों का प्रामाणिक हिंदी अनुवाद मैं छपवाऊँगी। बाल्यकाल से ही स्वामीजी के लेखों और अध्यात्म विशेषतः अद्वैत वेदांत की ओर श्रीमती की रुचि थी। श्रीमती के निर्देशानुसार इसका कार्यक्रम बाँधा गया। साथ ही श्रीमती ने यह इच्छा प्रकट की कि इस संबंध में हिंदी में उत्तमोत्तम ग्रंथों के प्रकाशन के लिये एक अक्षय नीवी की व्यवस्था का भी सूत्रपात हो जाय। इसका व्यवस्थापत्र बनते न बनते श्रीमती का स्वर्गवास हो गया।

राजकुमार श्रीउमेदसिंहजी ने श्रीमती की अंतिम कामना के अनुसार लगभग एक लाख रुपया श्रीमती के इस संकल्प की पूर्ति के लिये विनियोग किया। काशी नागरीप्रचारिणी सभा के द्वारा इस ग्रंथमाला के प्रकाशन की व्यवस्था हुई है। स्वामी विवेकानंदजी के यावत् निबंधों के अतिरिक्त और भी उत्तमोत्तम ग्रंथ इस ग्रंथमाला में छापे जायँगे और लागत से कुछ ही अधिक मूल्य पर सर्वसाधारण के लिये सुलभ होंगे। इस ग्रंथमाला की बिक्री की आय इसी अक्षय नीवी में जोड़ दी जायगी। यों श्रीमती सूर्य्यकुमारी तथा श्रीमान् उमेदसिंहजी के पुण्य तथा यश की निरंतर वृद्धि होगी और हिंदी भाषा का अभ्युदय तथा उसके पाठकों को ज्ञान-लाभ।

विषय-सूची

विषय. पृष्ठ.

मुद्रा-शास्त्र

पहला परिच्छेद
मुद्रा का स्वरूप

(१) मुद्रा का महत्व

विनिमय की विधि तथा मुद्रा-प्रणाली का जन-समाज की उन्नति तथा सभ्यता में महत्वपूर्ण अंश है। व्यक्ति तथा समाज के जीवन का कोई ऐसा अंश नहीं, जिस पर इसकी छाप न पड़ी हो। इतना होते हुए भी बहुत से अर्थ-शास्त्रज्ञ इसको एक गौण वस्तु ही समझते हैं। कई एक तो मुद्रा तथा साख के दोषों को ही देखते हैं और विनिमय के इन साधनों के मटियामेट करने में ही मनुष्य-समाज का कल्याण समझते हैं। महाशय मिल तक ने लिख दिया है कि "समाज के जीवन में मुद्रा से बढ़कर कोई तुच्छ पदार्थ नहीं"*। सत्य तो यह है कि व्यक्ति

---

* मिल लिखित—प्रिन्सिपल्स आव् पोलिटिकल इकानमी, भाग ३, परि० ७, पैरा ३.

तथा समाज का जीवन मुद्रा पर ही निर्भर है। मुद्रा के ताने-बाने में प्रत्येक मनुष्य बुना हुआ है। यदि यह ताना बाना टूट जाय, तो मनुष्य-समाज के जीवन का सौंदर्य नष्ट हो जाय और बहुत से ऐसे पारस्परिक संबंध छिन्न भिन्न हो जायँ जो मनुष्य-समाज को जान से ज्यादा प्यारे हैं। मुद्रा तथा विनिमय के परिवर्त्तनों के साथ ही साथ आर्थिक उन्नति परिवर्त्तित होती है। दोनों एक साथ ही घूमते हैं। हाब्सन ने ठीक लिखा है कि "कल-यंत्र द्वारा उत्पत्ति की विधि में परिवर्त्तन होते ही मुद्रा तथा विनिमय की प्रणाली ने एक नवीन रूप धारण किया। दोनों के जातीय तथा अंतर्जातीय स्वरूप में प्रकट होते ही साख ने विशाल रूप प्राप्त किया। सारा व्यावसायिक परिवर्त्तन मुद्रा तथा विनिमय-प्रणाली के महत्वपूर्ण परिवर्त्तन का ही एक अंग समझा जा सकता है और उस पर उसी की दृष्टि से विचार किया जा सकता है"। *

व्यापार तथा उद्योग-धंधे के विकास के साथ ही साथ मुद्रा तथा विनिमय की प्रणाली भी बदलती है। जहाँ व्यापार परिमित है, उत्पत्ति की विधि पुरानी है, बाजार छोटा है, वहाँ मुद्रा तथा विनिमय की प्रणाली तुच्छ तथा सरल होती है। ऐसे स्थानों में साख भी विशाल रूप नहीं प्राप्त करती। परंतु जहाँ व्यवसाय तथा उद्योग-धंधा सुसंघटित हो, कलयंत्र द्वारा

---

* हाब्सन लिखित—इवोल्यूशन आव् माडर्न कैपिटलिज्म, पृ० ७

पदार्थ बहुत मात्रा में उत्पन्न किए जाते हों, बाजार विस्तृत हो और आमदनी बहुत ही अधिक हो, वहाँ मुद्रा बहुमूल्य तथा विनिमय की प्रणाली विषम होती है। आखेटजीवी जाति में धनुष-बाण और चमड़ा ही मुद्रा है। सोना, साख, हुंडी तथा विदेशीय विनिमय बिल आदि वर्त्तमान समाज में ही विनिमय के साधन हो सकते हैं। अल्प पूँजी से बहुत बड़ा काम करना, धातविक मुद्रा का काम पत्र-मुद्रा से निकालना, धातविक मुद्राओं के बनाने में श्रम तथा पूँजी का वृथा व्यय न करना, साख का संसारव्यापी विशाल भवन खड़ा करना और लेन देन के शुद्ध करने के लिये संशोधक-गृहों का प्रयोग करना इस बात का सूचक है कि मुद्रा तथा विनिमय का स्वरूप जन-समाज की व्यावसायिक उन्नति का दिग्दर्शक यंत्र है।

मुद्रा तथा विनिमय-प्रणाली को देखते ही किसी समाज की सभ्यता, जीवन-निर्वाह, रहन सहन तथा आर्थिक उन्नति का पता लगाया जा सकता है। मनुष्य आमदनी के अनुसार ही खर्च करता है। कम धन से कीमती चीज़ें नहीं खरीदी जा सकतीं। भारत जैसे निर्धन देश में पैसा, अधेला तथा कौड़ियाँ चल सकती हैं; पर इंग्लैंड जैसे समृद्ध देश में यह बात नहीं हो सकती। चार आने तथा चार रुपए रोजाना मजदूरीवाले देशों का सिक्का एक नहीं हो सकता; पहले में सोने का सिक्का साधारण सिक्का नहीं बन सकता; परंतु दूसरे में यह बात नहीं। चार रुपए रोजाना मज़दूरीवाले देश के लोग पदार्थों

का क्रय-विक्रय पाउंड तथा पाउंड की रेजगारी में कर सकते हैं। चार आने मजदूरीवाले देश के लोग पाउंड का व्यवहार कर ही कैसे सकते हैं जब कि उनकी मासिक मजदूरी भी पाउंड तक न पहुँचती हो? सारांश यह है कि सिक्के के स्वरूप को देखते ही जन-समाज की आर्थिक उन्नति का अनुमान किया जा सकता है। गिन्नी तथा रुपए में जो भेद है, वही भेद गिन्नी तथा रुपए का व्यवहार करनेवाले देशों की अमीरी तथा गरीबी में भी है।

श्रम-विभाग तथा मुद्रा-प्रणाली में भी घनिष्ट संबंध है। उत्पत्ति की वर्त्तमान विधि श्रम-विभाग के विस्तृत प्रयोग का एक नमूना है। श्रम-विभाग का विस्तृत प्रयोग बाजार के विस्तार पर और वह स्वयं विनिमय-प्रणाली तथा मुद्रा की उत्तमता पर निर्भर है। इसी को इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि अंतर्जातीय व्यापार का आधार मुद्रा तथा विनिमय-प्रणाली है। यदि यह आकस्मिक कारण से सर्वथा नष्ट हो जाय तो संसार का प्रत्येक राष्ट्र एक दूसरे से पृथक् हो जाय। राष्ट्रों का पारस्परिक संबंध मुद्रारूपी रस्सी से ही बँधा है। सर आर्चीबाल्ड एलीसन का मत है कि रोम का अधःपात मुद्रा की कमी से हुआ। इसमें संदेह भी नहीं है कि रोम का अंतर्राष्ट्रीय संबंध मुद्रा की कमी के कारण बहुत ही अधिक शिथिल हो गया था और किसी अंश तक वही उसके अधःपात का कारण भी हुआ। यदि रोम में मुद्रा की कमी न होती तो

उसका अंतर्राष्ट्रीय संबंध अन्य कारणों से ढीला पड़ते हुए भी मुद्रा-रूपी बंधन से जकड़ा रहता।

मुद्रा-प्रणाली का आर्थिक स्वतंत्रता में भी बड़ा अंश है। राजनीतिक तथा व्यावसायिक स्वतंत्रता में मुद्रा ने जो छाप लगाई है, वह भुलाई नहीं जा सकती। सर हैंडीमेन ने ठीक लिखा है कि रीति-रिवाज तथा लोक-प्रथा के स्थान पर मौद्रिक व्यवहार का प्रारंभ होते ही सभ्यता बहुत शीघ्रता से बढ़ी। मुद्रा के प्रयोग से राज्य-कर तथा मालगुजारी का देना सुगम हो गया। शारीरिक दासता लुप्त होकर मज़दूरी के रूप में प्रकट हुई। अर्धदास रुपयों में मालगुजारी देकर ताल्लुकेदारों की अनुचित हुकूमत से छुटकारा पा गए। महाशय निकल्सन ने लिखा है कि "मध्य युग में मुद्रा के बढ़ते ही बहुत से सामाजिक संशोधन हुए*।" रुपयों में हिसाब किताब कर किसान ताल्लुकेदारों की दासता से मुक्त हो गए। युरोपीय नगरों ने रुपया इकट्ठा करके ताल्लुकेदारों के प्रभुत्व को चकनाचूर किया, मासिक वेतन पर सिपाहियों को नौकर रखकर आत्म-संरक्षण का मार्ग निकाल लिया और अपनी स्वतंत्रता को सुरक्षित किया। रुपयों में मालगुजारी देना शुरू होने पर स्वेच्छाचारी राजाओं ने मालगुजारी बढ़ाना प्रारंभ किया। इस स्वेच्छाचार को नष्ट करने के लिये जनता संघटित हुई। धीरे धीरे युरोप में लोक-

---

* निकल्सन लिखित—मनी ऐण्ड मानिटरी प्राब्लम्ज। पञ्चम-संस्करण पृ० १७

तंत्र शासन-पद्धति की नींव पड़ी। भारत में भी किसानों का आंदोलन शुरू है। यहाँ भी मालगुजारी का मुद्रा में लिया जाना ही संपूर्ण विक्षोभ की तह में है। बँटाई की रीति में यह आंदोलन संभव न था। दक्षिणी अफ्रीका के नीग्रो लोगों में वही लोग कुछ कुछ स्वतंत्र तथा सुखी हैं जो मुद्रा में मजूरी लेते हैं। महाशय डुवायस ने अपने "दि सोल्ज़ आव् ब्लैक फाक" नामक ग्रंथ में इस विषय पर अच्छा प्रकाश डाला है। इंग्लैंड में कुछ सदियों पूर्व श्रमियों को मेहनताना पदार्थ में दिया जाता था। इस प्रणाली का दोष प्रत्यक्ष है। चीजों के खरीदने में बेचारे श्रमियों को स्वतंत्रता न होना दासता से भी बढ़कर दासता है। मुद्रा ने भृति के बाँटने में प्रवेश कर गरीबों को एक बड़ी भयंकर दासता से मुक्त कर दिया है।

जातीयता की वृद्धि में भी मुद्रा तथा विनिमय-प्रणाली का भाग है। मुद्रा, विनिमय तथा श्रमविभाग की वृद्धि से इंग्लैंड के गाँवों में बड़ा परिवर्द्धन हो गया। शहरों तथा गाँवों का संबंध घनिष्ट हो गया। व्यापारीय तथा व्यावसायिक एकता बढ़ गई। पूँजी तथा श्रम का भ्रमण बढ़ गया। रेलों तथा जहाजों के सदृश ही मुद्रा ने संसार के लोगों को एक दूसरे के पास कर दिया और जाति में जातीयता के भावों को बढ़ा दिया। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि आजकल मुद्रा भी जातीय हो गई है। जनता विजातीय मुद्राओं को ग्रहण करने तथा स्वजातीय मुद्राओं को छोड़ने पर तैयार नहीं। लाभ तथा सुभीते के होते

हुए भी जातियाँ किसी एक संसार-मान्य सार्वभौम मुद्रा का स्वीकार नहीं कर रही हैं। यही नहीं, मुद्रा जातीय विज्ञापन का साधन बन रही है। इंग्लैंड तथा जर्मनी का यह विश्वास है कि आंग्ल तथा जर्मन मुद्राओं के चलन से एशिया के देशों में हमारा व्यापार बहुत बढ़ सकता है। निस्संदेह इसमें सचाई है। परंतु संसार का हित इसी में है कि सभी देश किसी एक ही मुद्रा का समान तौर पर व्यवहार करें।

मुद्रा तथा विनिमय का वर्त्तमान स्वरूप व्यापार तथा व्यवसाय की वृद्धि में एक मुख्य कारण है। इसी के कारण पूँजी का एकत्र करना सुगम हो गया है। एकत्र पूँजी से लोग भिन्न भिन्न कंपनियों के हिस्से खरीदते हैं और इस प्रकार नवीन उद्योग-धंधों को बढ़ाते हैं। भारत में रेलों, चाय के बागों तथा जूट की कंपनियों में रुपयों का लगाना इसी बात का उदाहरण है। बहुत दूर के देशों में पूँजी का लगाना उत्तम मुद्रा के बिना नहीं हो सकता। पण प्रतिपण या बार्टर से पूँजी का भ्रमण स्थानीय ही होता है। व्यय-योग्य पदार्थों का बढ़ना रुक जाता, यदि मुद्रा बार्टर का स्थान ले लेती। परंतु इसका यह मतलब नहीं कि मुद्रा की संख्या के बढ़ते ही व्यय-योग्य पदार्थ बढ़ जाते हैं और कोई देश समृद्ध हो जाता है। जरूरत से ज्यादा मुद्रा की संख्या बढ़ने का परिणाम महँगी है। महँगी होते ही देश की मुद्रा उस ओर बह जाती है जहाँ सस्ती हो। यही बात देश में सोने चाँदी

की खानों के होने पर होती है। खानों से बहुमूल्य धातु खोदकर कोई देश अपनी क्रयशक्ति बढ़ा सकता है और इस प्रकार समृद्ध हो सकता है। गंभीर विचार करने से मालूम पड़ेगा कि इस समृद्धि का मुख्य कारण मुद्रा या बहुमूल्य धातु से जुदा होना है, न कि उनको एक ही राष्ट्र में एकत्र करना।

गुणों के सदृश ही मुद्रा में कुछ ऐसे भयंकर दोष भी हैं जो उसके संपूर्ण गुणों पर पर्दा डालते हैं। धन की असमानता में मुद्रा का विशेष भाग है। माना कि प्राचीन काल में भी, जब कि बार्टर ही व्यवहार का मुख्य साधन था, जनता में धन तथा संपत्ति की असमानता मौजूद थी। परंतु वह असमानता इतनी हानिकर तथा दुःखजनक थी जितनी कि आजकल की धन की असमानता है। प्राचीन काल में उत्पत्ति के साधन सरल तथा सस्ते थे। परंतु अब यह बात नहीं रही। नए ढंग के कल-यंत्रों तथा पुतलीघरों से काम लेने के लिये लाखों की संपत्ति तथा अंतर्जातीय बाजार की जरूरत है। अपरिमित मुद्रा जुटानेवाले धनिक लोग ही संपूर्ण शिल्पी पदार्थों के बनवाने तथा बेचनेवाले बन बैठे हैं, जिससे धनिकों तथा मेहनतियों की दो श्रेणियाँ उत्पन्न हो गई हैं। अंतर्जातीय बाजार की जरूरत से प्रेरित होकर दूरवर्ती राष्ट्रों को पराधीन करना तथा उनकी कारीगरी नष्ट करना युरोपीय पूँजीपतियों का हर रोज का खिलवाड़ सा हो गया है। यदि मुद्रा ने किसी हद तक स्वतंत्रता उत्पन्न की है, तो अंतर्जातीय दासता तथा समाज में

आर्थिक दासता उत्पन्न करने में भी उसका कुछ कम भाग नहीं है। अंतर्जातीय दासता से जातीय विक्षोभ और आर्थिक दासता से सामाजिक विक्षोभ पैदा हो गए हैं। स्वतंत्रता-युद्ध, असहयोग, सत्याग्रह, हड़ताल तथा द्वारावरोध का वर्तमान मुद्राप्रणाली से घनिष्ट संबंध है। मुद्रा के मूल्य की अस्थिरता ने भी इन सामाजिक विक्षोभों को बढ़ाया है। महँगी के बढ़ने के साथ साथ वेतन-भोगियों का वेतन नहीं बढ़ता। लाचार होकर उनको हड़ताल करनी पड़ती है और हड़ताल में सफल न होकर वे सब कष्ट उनको भुगतने पड़ते हैं जो एक युद्ध में पराजित देश भुगतता है। निस्संदेह मुद्रा ने जातीयता बढ़ाई है। परंतु यह गुण कहीं दोष तो नहीं? विनिमय की दर का प्रपंच न खड़ा होता और न महायुद्ध के खतम होने पर अंतर्जातीय व्यापार तथा उस पर अवलंबित जातीय उद्योग-धंधे इतनी रुकावटें सहते, यदि मुद्रा जातीय प्रीति का स्थान न बन जाती। मुद्रा के भेद से भारत का धन चूसना इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि मुद्रा ने जातीयता का अंग बनकर लाभ के सदृश ही नुकसान भी किया है। श्रम-विभाग-विषयक मुद्रा का लाभ भी कुछ कुछ गौण पड़ जाता है जब कि व्यवसायपतियों में धन की तृष्णा तथा न्याययुक्त क्षोभ का उल्लंघन कर श्रमियों की आर्थिक दासता बढ़ाने में या उनको एक मात्र मैशीन बनाने में ही प्रकट होता है।

इन सब दोषों के होते हुए भी मुद्रा का बहिष्कार समाज

के लिये हितकर न होगा। निस्संदेह साम्यवादी यही चाहते हैं। उन्होंने मुद्रा के स्थान पर श्रम-टिकट का चलाना ही उचित समझा है। तो यदि श्रम-टिकट पारस्परिक व्यवहार का साधन हो और जरूरत पड़ने पर एक दूसरे को दिया जा सकता हो, तो उसमें तथा पत्र-मुद्रा में नाम का ही भेद रह जाता है। यदि श्रम-टिकट में यह वात न हो तो राजकीय भंडार के अध्यक्ष द्वारा जनता की स्वतंत्रता कुछ न कुछ नष्ट की जा सकती है। राजकीय कर्मचारियों के अत्याचार, दुर्व्यहार तथा लोभ का परिणाम भयंकर हो सकता है। जव सारी जनता को राजकीय भंडारों पर ही आवश्यक पदार्थों के लिये निर्भर करना पड़ेगा तो भंडारियों की शक्ति वहुत ही अधिक वढ़ जायगी। सबसे वड़ी वात तो यह है कि किसान तथा कारीगर अपने अपने पदार्थों को मुफ़्त में ही क्यों राजकीय भंडार में भेजने लगे? यदि उनको जवरन् देना पड़े तो वे अधिक राशि में पदार्थ क्यों उत्पन्न करने लगे? स्वत्व तथा वैयक्तिक लाभ का पदार्थों की उत्पत्ति में वड़ा अंश है। यदि यह दोनों वातें न रहें तो पदार्थों का उत्पन्न करना छोड़ दिया जाय। सारांश यह है कि मुद्रा का वहिष्कार अनुचित है। मुद्रा समाज का जीवन तथा प्राण है। उचित तो यह है कि मुद्रा के दोषों को दूर करने के तरीके ढूँढ़े जायँ। इसी में समाज का हित तथा कल्याण है।*

---

* जार्ज टुकर—थियोरी आव् मनी ऐंड वैंक्स। परिच्छेद ३। हार्पर

(२) मुद्रा का विकास

संपत्तिशास्त्रज्ञों तथा समाजशास्त्रज्ञों ने पुराने असभ्य लोगों की रहन-सहन, लोक-प्रथा और जीवन-निर्वाह के तरीकों के विषय में बहुत अधिक खोज की है। पुराने विद्वानों का खयाल था कि बार्टर की कठिनाइयों से ही प्राचीन जन-समाज मुद्रा तथा विनिमय-प्रणाली के विषम रूप का अवलंबन करने की ओर झुका। हिल्दी ब्राड ने लिखा है कि "मुद्रा के प्रयोग से बार्टर की तकलीफें दूर की गईं। अब समय आनेवाला है जब कि मुद्रा के दोषों को दूर करने के लिये साख का उद्योग किया जाय।" आजकल यह सिद्धांत बहुत ही मान्य हो रहा है कि "साख का विस्तार सभ्यता की निशानी है। अधिक सभ्य देश बार्टर तथा मुद्रा के स्थान पर साख का ही प्रयोग करते हैं।" परंतु दोनों ही सिद्धांत सत्य से कुछ कुछ दूर हैं। अन्य लोक-प्रथाओं तथा राजनीतिक संस्थाओं के सदृश ही मुद्रा, बार्टर तथा साख बीजरूप से प्राचीन जन समाज में विद्यमान थे। कोई किसी दूसरे के नाश पर नहीं पैदा हुआ। कदाचित् किसी का यह खयाल हो कि बार्टर से तंग आकर लोगों

लिखित—मनी ऐंड सोशल प्राब्लम्ज। परिच्छेद ३। कार्ल मार्क्स लिखित—कैपिटल ऐंड कैपिटलिस्टक प्रोडक्शन। जेवन्ज़ लिखित—मनी ऐंड मेकेनिज्म आव् एक्सचेन्ज़। परिच्छेद १—पाठ १५। किंग्ले लिखित—मनी। परिच्छेद १। निकल्सन लिखित—मनी ऐंड मानिटरी प्राब्लम्ज। पृष्ठ १६-१७, १०७-११०

ने पक्षपाती ढंग पर मुद्रा का चुनाव किया। पर इसका समाधान महाशय हर्बर्ट स्पेंसर ने अपनी 'डेटा आव् सोशियालोजी' में इस प्रकार किया है कि "मैक्सिको के असभ्य लोगों में व्यापार का काम मुद्रा तथा बार्टर द्वारा एक सदृश होता है। सफेद नील के तटवर्ती शिलूक नामक लोग एक एक महीने की साख पर कारोबार का काम करते हैं। यूकेसान के जंगली लोग भी मुद्रा तथा साख के सहारे व्यापार करते हैं और व्याज नहीं लेते। दक्षिणी अमेरिका के चिवचाज़ साख पर दी गई वस्तु पर व्याज लेते हैं। लोअर गीनी के वोन्डास अभी तक शंख तथा कौड़ियों से ही काम चलाते हैं। फ्यूजियन लोगों में कपड़ा, टीन के रिंग तथा दारू आदि मुद्रा के तौर पर काम में आते हैं।" सारांश यह है कि समाज के विकास में कोई ऐसा समय नहीं था जब कि विनिमय तथा मुद्राप्रणाली तीनों रूपों में विद्यमान न हो। इसमें संदेह भी नहीं है कि बहुत बार तीनों प्रणालियाँ एक साथ नहीं भी रहीं। परंतु कौन पहले और कौन पीछे थी, इसका क्रम भी नहीं बताया जा सकता। असभ्य से असभ्य जंगली लोगों में भी साख, मुद्रा तथा बार्टर में से कोई न कोई मौजूद होता है। कभी कभी तो तीनों में से दो का और कभी कभी तीनों ही का प्रयोग होता है। इतना होते हुए भी सभ्यता ने इन प्रणालियों में पर्य्याप्त भेद डाला है। सभ्यता के विकास के साथ साथ मुद्रा तथा विनिमय-प्रणाली में विशेष परिवर्तन आया। समाज

के रूप के सदृश ही विनिमय प्रणाली के प्रत्येक अंग ने विशाल रूप प्राप्त किया। वार्टर जैसी तुच्छ वस्तु अंतर्जातीय व्यापार में प्रकट होकर नए नए सिद्धांतों तथा विचारों का आधार बन गई। साख का संसारव्यापी शरीर आधुनिक बैंकों तथा संशोधक-गृहों से प्रत्यक्ष है। मुद्रा ने भी विनिमय दर की समस्या को जन्म देकर अपने साधारण स्वरूप का परित्याग कर दिया।

मुद्रा के तौर पर वही पदार्थ चुने गए जो कि (१) विनिमय के साधक तथा (२) मूल्य के प्रकाशक थे। इन दोनों में कौन पहले और कौन पीछे आवश्यक समझा गया, इस पर बहुत मतभेद है। बहुतों का मत है कि जो पदार्थ उत्तम विधि पर विनिमय का साधक था, वही मुद्रा बना। मूल्य के प्रकाशन का मामला तो पीछे उठा। कुछ विद्वान् इस मत के विरोधी भी हैं। उनका विचार है कि पदार्थों के पारस्परिक महत्व का प्रश्न पहले और विनिमय के साधन का प्रश्न पीछे उठा। विनिमय का साधक कोई पदार्थ सबसे पहले हो ही कैसे सकता है, जब तक कि लेन देन या विनिमय में वह महत्व न प्राप्त करे? महत्व प्राप्त करने का मतलब यही है कि पदार्थ मूल्य का प्रकाशक हो। यहीं पर बस नहीं है। बार्टर में पदार्थ का विनिमय पदार्थ से होता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि एक चारपाई के बदले में एक लाख मन गेहूँ प्राप्त किया जा सकता है। सारांश यह है कि बार्टर द्वारा भिन्न भिन्न

पदार्थों का भिन्न भिन्न मात्रा में ही विनिमय होता है। विशेष मात्रा में विनिमय या मूल्य का प्रकाशन कोई दो भिन्न वस्तुएँ नहीं। दोनों बातें एक ही घटना को सूचित करती हैं। इसी से स्पष्ट है कि मुद्रा में प्रयुक्त होने से पूर्व कोई पदार्थ मूल्य का प्रकाशक पहले था और विनिमय का साधक पीछे बना। परंतु हमारी सम्मति में तो ये दोनों ही मत भ्रमपूर्ण हैं। यदि जंगली जातियों के जीवन तथा रहन-सहन का गंभीरता से अध्ययन किया जाय तो पता लगेगा कि जो पदार्थ मुद्रा के तौर पर चुना गया, वह एक साथ ही मूल्य का प्रकाशक तथा विनिमय का साधक था। मुद्रा के दोनों गुणों का उद्भव एक साथ ही हुआ। खाद्य तथा भोग्य पदार्थों का पारस्परिक विनिमय ही इस बात का सूचक है कि असभ्य लोग पदार्थों के पारस्परिक महत्व से सर्वथा अनभिज्ञ न थे। जब जरूरत ने उनको वस्तु-विनिमय के लिये प्रेरित किया, तब उन्होंने विनिमय करते समय पदार्थों की मात्रा का भी विशेष तौर पर ध्यान किया। अर्वाचीन लोगों के सदृश ही प्राचीन असभ्य लोग भी इस बात से परिचित थे कि पदार्थों का पारस्परिक विनिमय किस अनुपात में होना चाहिए। यही कारण है कि आजकल अधिकांश विद्वान् इस बात में सहमत हैं कि शुरू शुरू में जो पदार्थ मुद्रा के तौर पर चुने गए, वे विनिमय के साधक होने के साथ ही साथ मूल्य के प्रकाशक भी थे।

मुद्रा के विकास की जटिल समस्या समझने के लिये

यह जानना नितांत आवश्यक है कि पुराने लोगों ने भिन्न भिन्न पदार्थों को मुद्रा के तौर पर क्यों चुना। उनमें क्या गुण थे जिनके कारण वे विनियम के माध्यम के तौर पर उत्तम माने गए। इन प्रश्नों से जो कुछ झलकता है, वह यही है कि विनिमय के माध्यम का चुनाव कोई कल्पित घटना है। वास्तविक बात तो है कि सामाजिक परिस्थिति ही विनिमय के माध्यम की निर्णायक थी। इस काम के लिये जो पदार्थ उपयुक्त था, वही माध्यम बन गया। चावल, गौ, बैल, रथ, दास, दासी आदि अनेक पदार्थ माध्यम बने और समयांतर में दूसरे पदार्थों ने उनका स्थान ले लिया। जो पदार्थ सर्वप्रिय था, वही विनिमय का माध्यम हो गया। जो सर्वप्रिय पदार्थ चिरस्थायी थे, उन्होंने धीरे धीरे महत्व प्राप्त करना शुरू किया। धातुओं के मौद्रिक क्षेत्र में प्रविष्ट होने का मुख्य कारण भी यही है। सोना, चाँदी, ताँबा, लोहा आदि धातविक मुद्राओं के बनाने में काम आने लगे। सोने-चाँदी का तो अब तक सभी जातियों में एक सदृश आदर है।

सुगमता तथा सर्वप्रियता का विनिमय के माध्यम के चुनाव में जो भाग है, उस पर प्रकाश डाला जा चुका है। कठिनता तथा असुविधा ने विनिमय के माध्यमों के पारस्परिक महत्व में जो भाग लिया, उस पर अब प्रकाश डाला जायगा। सर्वप्रियता के कारण अनेक पदार्थ माध्यम के तौर पर प्रयुक्त हुए। परन्तु उनमें से बहुत से पदार्थ ऐसे थे जिनका विभाग

नहीं हो सकता था। दास-दासियों के माध्यम होने में यही कठिनाई उपस्थित हुई। यही कारण है कि बहुत से प्राचीन राष्ट्रों में प्रतिनिधि मुद्रा का व्यवहार प्रचलित था। दृष्टांत-स्वरूप यूनान में बैल के प्रतिनिधि रूप सिक्के पर बैल का चित्र, चीन में वस्त्र का चित्र और रूस में चमड़े का प्रतिनिधि रूप चमड़े का सिक्का प्रचलित किया गया। धातुओं का प्राधान्य उनके विशेष विशेष गुणों के कारण हुआ। मैंगर ने ठीक लिखा है कि धातुओं ने अपनी अप्रतिम सर्वप्रियता के कारण ही माध्यमों में मुख्यता प्राप्त की। आमदनी तथा कीमतों की अधिकता ने बहुमूल्य धातुओं को विशेष महत्व दिया। आमदनी तथा कीमतों के भेद के कारण अनेक धातुओं के सिक्के माध्यम के तौर पर काम में लाए जाते रहे। अब तक भी यही दशा है।

बाजार के ह्रास तथा विस्तार का मुद्रा के विकास में जो भाग है, वह भी भुलाया नहीं जा सकता। व्यापार-वृद्धि ने माध्यमों के उलट-पलट में विशेष तौर पर भाग लिया है। बहुत से विद्वानों का तो यह विचार है कि बाजार के विकास के साथ ही साथ मुद्रा का भी विकास हुआ। वस्तु-विनिमय ही व्यापार का पूर्व रूप था। इसका मुख्य कारण वैयक्तिक विनिमय, स्थानीय बाजार तथा पदार्थों के प्रत्यक्ष प्रयोग के साथ संबद्ध है। समयांतर में वैयक्तिक विनिमय ने संघीय तथा अंतर्राष्ट्रीय विनिमय को, स्थानीय बाजार ने मेलों के रूप में संघीय तथा

अंतर्राष्ट्रीय बाजार को और पदार्थों के प्रत्यक्ष प्रयोग ने श्रम-विभाग, व्यापारीय संस्था तथा व्यवसाय-गृहों के उद्भव के साथ साथ अप्रत्यक्ष प्रयोग को महत्व दिया। सारांश यह है कि सामाजिक परिस्थिति में ही माध्यम उत्पन्न हुए और उसके ह्रास या विकास के साथ ही साथ घटते बढ़ते रहे। अल्प-समाज में माध्यम तुच्छ तथा सरल थे और उसके वृहत्समाज के रूप में विकसित होते ही माध्यम भी वहुमूल्य तथा विषम हो गए। इसी से यह भी स्पष्ट है कि हिल्दी ब्रांड का पूर्वनिर्दिष्ट मत कभी संतोषजनक नहीं हो सकता। मुद्रा से वार्टर और वार्टर से साख का विकास नहीं हुआ। तीनों ही बीज रूप में प्राचीन लोगों में विद्यमान थे। ज्यों ज्यों समाज तथा राष्ट्र ने विशाल रूप धारण किया, उनका रूप भी विषम तथा विशाल होता गया। अर्वाचीन माध्यमों के विशाल वृत्त प्राचीन माध्यमिक बीजों से ही विकसित हुए हैं। वार्टर, मुद्रा तथा साख पूर्ववत् ही अब भी विद्यमान हैं। केवल रूप का ही फरक है।

३—मुद्रा का निर्माण

मुद्रा के विकास में दिखाया गया है कि सुगमता तथा सर्वप्रियता ने विनिमय के माध्यमों में उलट-फेर किया। शुरू शुरू में वही पदार्थ माध्यम बने जिनकी जरूरत सभी व्यक्तियों को थी। कृषि-प्रधान जाति में गौ, बैल, बकरी, भेड़ का विशेष महत्व होता है। यही कारण है कि लगभग सभी प्राचीन

जातियों में गौ, बैल, बकरी, भेड़ आदि विनिमय के माध्यम के तौर पर चलते हुए मिलते हैं। व्यापार-व्यवसाय की वृद्धि के साथ ही साथ माध्यमों में परिवर्तन हुआ। जिन पदार्थों का पूर्ण विभाग हो सकता था और प्रत्येक भाग का मूल्य एक सदृश बना रहता था और जो कि जनता में सर्वप्रिय थे, उन्होंने माध्यमों में विशेष तौर पर मुख्यता प्राप्त की। यही कारण है कि शनैः शनैः चौपायों का स्थान धातुओं ने ले लिया।

शुरू शुरू में धातु के एक समान टुकड़े व्यवहार में आए। टुकड़ों ने जब स्थिर रूप धारण किया, तभी से उनका मुद्रा के रूप में विकास समझा जाता है। महाशय वाकर ने लिखा है कि "जनता की सुगमता के लिये किसी पदार्थ के टुकड़ों को एक विशेष मात्रा में काम में लाना और उनको मुद्रा के तौर पर प्रयुक्त करने की प्रणाली का नाम मुद्रा-प्रणाली है"। यह लक्षण अतिव्याप्त है। किसी पदार्थ के टुकड़ों में तो ऐसे अनेक पदाथ आ जायँगे जिनको अर्वाचीन मुद्राप्रणाली का अंग नहीं माना जाता। आजकल मुद्रा का तात्पर्य्य धातुओं के उन टुकड़ों से है जिन पर सरकार की या संस्था विशेष की ऐसी छाप लगी हो जो उनके रूप, तौल, मान, मूल्य तथा निर्दोषता को प्रमाणित करती हो।

मुद्रा-विकास के सदृश ही मुद्रा-प्रणाली का भी विकास है। शुरू शुरू में समान पदार्थों का आकार, स्वरूप तथा भार नियत करने का ही यत्न किया गया। अफ्रीकन हब्शियों का और

अमेरिकन रेड इंडियनों का मूँगे या कौड़ी को मुद्रा के तौर पर काम में लाना इसी का ज्वलंत उदाहरण है। धीरे धीरे लोहे तथा ताँबे के टुकड़ों का व्यवहार किया गया और कुछ ही समय के बाद उनको समान रूप दिया गया। एक बार जब यह आविष्कार हो गया, तब भिन्न भिन्न पदार्थों पर इसका प्रयोग किया गया। गोल सिक्कों का विकास तो बहुत ही अद्भुत है। प्राचीन काल में सिक्के चौखूँटे तथा गोलमटोल होते थे। गोल सिक्कों का बनना कुछ ही समय हुआ,शुरू हुआ। बेईमानी तथा काट-छाँट से बचने के लिये उनके चारों ओर कींगरे बनाए गए।

मुद्राप्रणाली के इतिहास को देखने से मालूम पड़ता है कि लगभग सभी धातुएँ सिक्के के तौर पर काम में आ चुकी हैं। लोहा, ताँबा, जस्ता, राँगा, प्लाटिनम्, चाँदी, सोना और अनेक अन्य धातुएँ समय समय पर सिक्का बनती रहीं। किस धातु का सिक्का किस जाति के लिये उपयुक्त है, इसका आधार जाति की आर्थिक दशा पर है। अति समृद्ध जाति में सोने चाँदी का सिक्का ही मुख्य तौर पर चलता है। चीन दरिद्र है, अतः वहाँ ताँबे का और युरोप तथा अमेरिका समृद्ध हैं, अतः वहाँ चाँदी का सिक्का ही मुख्यतया चलता है।

आम मुद्रा वही समझी जाती है जो कि निर्दोष हो और जिसका भार स्थिर हो। साथ ही उसका चिरस्थायी तथा पूर्ण विभाग-युक्त होना भी आवश्यक समझा जाता है। सोने चाँदी

के कितने ही टुकड़े क्यों न किए जाँय, उनके मूल्य में कुछ भी भेद नहीं आता। हीरे में यह बात नहीं है। हीरे का जितना बड़ा टुकड़ा होगा, उसका उतना ही अधिक दाम होगा; और जितना छोटा टुकड़ा होगा, उसका उतना ही कम दाम होगा। आजकल चाँदी तथा सोने के सिक्कों को चिरस्थायी करने के लिये उनमें नियत परिमाण में ताँवा मिलाया जाता है। सभी सिक्कों की तौल तथा रूप एक सदृश होता है।

मुद्राप्रणाली की उत्तमता के कारण आजकल मुद्राएँ राष्ट्रीय हो गई हैं। अभी तक इसमें और भी सुधार की जरूरत है। उचित तो यह है कि मुद्राएँ अंतर्राष्ट्रीय या सार्वभौम हो जायँ। आजकल एक राष्ट्र की मुद्राएँ दूसरे राष्ट्र में नहीं चलतीं। तौल के द्वारा ही मुद्राओं का अंतर्जातीय ऋण में व्यवहार होता है। उनमें जो धातु होती है, उसी के अनुसार अंतर्जातीय लेन-देन में वे चलती हैं।

मुद्रा की उत्तम आकृति वही है जिसके वनाने में धातु का बहुत ही कम नुकसान हो, लोगों को जाली सिक्का वनाने का मौका न मिले और लेन-देन के काम में किसी प्रकार की वाधा न पड़े। यह पूर्व ही लिखा जा चुका है कि आजकल प्रायः गोल सिक्कों का ही प्रचार है। सिक्के वनाते समय यह भी खयाल रखा जाता है कि वे न वहुत छोटे हों और न वहुत बड़े। दस रुपए के बराबर यदि एक सिक्का चाँदी का वनाया जाय तो बहुत ही भद्दा हो; और यदि एक रुपए के बराबर एक

सिक्का सोने का बनाया जाय तो बहुत ही छोटा हो। दोनों ही दशा में लोगों की कठिनाई बढ़ जाय। यही कारण है कि आजकल सिक्कों को अच्छी से अच्छी आकृति देने का यत्न किया जाता है।

जालसाजी को रोकने के लिये यह जरूरी है कि सिक्के का नकली तौर पर चलाना सुगम न हो। सिक्के को चिरस्थायी बनाने के लिये यह आवश्यक है कि उसके चारों ओर का किनारा ऊँचा रखा जाय। जब सिक्का टेबुल पर रखा जाय तो उसके किनारे ही टेबुल से छुएँ। यह क्यों? यह इसी लिये कि जब सिक्के के किनारे घिस जायँ तब सिक्के के घिसने की नौबत आवे। यहीं पर बस नहीं। उत्तम मुद्राप्रणाली का यह विशेष अंग है कि उसकी आकृति, रंग तथा स्वरूप ऐसा हो कि उसको देखते ही उसका मूल्य मालूम पड़ जाय। साथ ही इन सब गुणों को मुद्रा में लाने के लिये ऐसे उपाय किए जायँ जो कि सरल हों और अति व्यय-साध्य न हों।

मुद्रा-निर्माण के संबंध में यह प्रश्न उठते हैं कि मुद्राओं को कौन बनवाए? क्या यह राजा का अधिकार है या प्रजा का? यदि राजा का है तो राजा मुद्रा बनाने के बदले धन ले या न ले? विषय को स्पष्ट करने के लिये क्रमशः एक एक प्रश्न पर ही विचार किया जायगा।

आजकल मुद्रानिर्माण राज्य का काम समझा जाता है। शुरू शुरू में भिन्न भिन्न व्यापारीय संस्थाएँ ही यह काम करती

थीं। मध्य युग में राजाओं ने मुद्रानिर्माण में आमदनी देखकर इसको अपने हाथ में ले लिया। यदि यह बात न होती तो भी उन्हीं को यह काम करना चाहिए था। अभी लिखा जा चुका है कि मुद्रा के लिये तौल, मूल्य, मान तथा आकृति का नियत होना आवश्यक है। यह गुण मुद्रा में तभी आ सकते थे जब कि राज्य इस काम को अपने आप स्वयं करता। व्यक्तियों के द्वारा मुद्रानिर्माण में जालसाजी की बहुत ही अधिक संभावना होती है। यदि मुद्रानिर्माण में कुछ भी लाभ हो तो वह लाभ जनता को होना चाहिए। व्यक्तियों का उस लाभ पर कुछ भी हक नहीं है। सारांश यह है कि मुद्रा का निर्माण राज्य के द्वारा होना चाहिए।

यह प्रश्न बहुत ही महत्वपूर्ण है कि राजा को मुद्रानिर्माण का व्यय प्रजा से लेना चाहिए वा नहीं। इतिहास से इस विषय में कुछ भी सहारा नहीं मिलता; क्योंकि अनेक तरीकों से मुद्रा का निर्माण होता रहा है। अंग्रेजी भाषा में उन तरीकों के भिन्न भिन्न नाम हैं। दृष्टांतस्वरूप यदि राज्य अपने उद्देश्यों को सामने रखकर मुद्रा बनावे तो उसको लिमिटेड (Limited) या परिमित के नाम से पुकारा जाता है। जब कि टकसालों में चाँदी सोना ले जाकर स्वेच्छानुसार मुद्रा बनाने का व्यक्तियों को अधिकार हो, तो उसको फ्री कायनेज (Free Coinage) या स्वतंत्र मुद्रानिर्माण का नाम दिया जाता है। यदि ऐसा करने में राज्य कुछ भी धन न ले तो

उसको ग्रैट्यूशस (Gratuitous) या कृपान्वित मुद्रानिर्माण, यदि व्ययानुसार धन ले तो उसको ब्रासेज (Brassage) वा व्ययानुकूल मुद्रानिर्माण और यदि व्यय से अधिक धन ले तो उसको सीनियारेज (Seigniorage) या लाभानुकूल मुद्रानिर्माण कहा जाता है। भिन्न भिन्न राष्ट्रों में निर्माण व्यय भिन्न भिन्न है। उन्नत तथा सभ्य राष्ट्र व्ययानुकूल मुद्रानिर्माण प्रणाली के अनुसार ही काम करते हैं। निर्माण व्यय से अधिक धन लेना राज्य का अपने अधिकार का दुरुपयोग करना है और जनता को धोखा देना है। इंग्लैंड एक विचित्र देश है। अपनी भूमि में तो उसने कृपान्वित मुद्रानिर्माण का प्रचार किया है और भारत जैसे अधीन राज्य में लूटमार के द्वितीय रूप परिमित मुद्रानिर्माण विधि का प्रचार किया है। भारत में मुद्रानिर्माण राजकीय आमदनी का साधन है और इसके सहारे ऐसे ऐसे अनुचित काम किए जाते हैं जिनका किसी न्याययुक्त तरीके से समर्थन नहीं किया जा सकता। बहुत से अर्थशास्त्रज्ञ मुद्रानिर्माण व्यय लेने के पक्ष में हैं। उनकी युक्ति है कि

(१) मुद्रा एक शिल्पी पदार्थ है। जो सोने चाँदी की मुद्रा बनवाए, वही उसका व्यय भी दे।

(२) मुद्रा की रक्षा के लिये भी यह आवश्यक है कि मुद्रानिर्माण का व्यय लिया जाय। यदि यह न लिया जायगा तो व्यापारी विदेश में मुद्राओं को भेज देंगे और राष्ट्र को मुद्रा बनाने का दिन पर दिन अधिक खर्च उठाना पड़ेगा।

अर्वाचीन राष्ट्र दोनों ही युक्तियों को पसंद नहीं करते। व्यापारियों का कहना है कि मुद्राओं का विदेश में जाना एक उत्तम घटना है। जिन जिन देशों में मुद्रा जाती हैं, वहाँ वहाँ व्यापार करना सुगम हो जाता है। जिन मुद्राओं से लोग परिचित होते हैं, उन मुद्राओं के द्वारा लेन-देन सुगमता से करते हैं। मुद्राओं के द्वारा उनके देश का ज्ञान भी विशेष तौर पर हो जाता है। इंग्लैंड का अनुभव है कि उसके व्यापार की वृद्धि में कृपान्वित मुद्रानिर्माण का विशेष भाग है। रही पहली युक्ति कि मुद्रा एक शिल्पीय पदार्थ है; सो इसमें कुछ भी तत्व नहीं। राजा अनेक काम व्यापारीय दृष्टि से और अनेक काम राष्ट्रीय दृष्टि से करता है। राष्ट्रीय दृष्टि से वह जो काम करता है, उसके लिये प्रायः वह एक पृथक् राज्यकर नहीं लगाता। पार्कों, कंपनी बागों तथा अन्य बहुत से कामों में यही बात रहती है। प्राथमिक शिक्षा का प्रबंध भी प्रायः बहुत से राष्ट्रों में निःशुल्क है। मुद्रानिर्माण को भी इसी श्रेणी के कामों में रखा जा सकता है। व्ययानुकूल मुद्रानिर्माण के विरुद्ध निम्नलिखित पाँच युक्तियाँ दी जाती हैं जो बहुत से अंशों में सत्य हैं।

(१) भिन्न भिन्न राष्ट्रों में मुद्रानिर्माण का व्यय भिन्न भिन्न होगा। इससे एक ही तौल के सिक्के का मूल्य मुद्रानिर्माण व्यय की भिन्नता के कारण भिन्न हो जायगा। इससे अंतर्जातीय व्यापार में भयंकर बाधा पड़ेगी।

(२) यदि मुद्रानिर्माण-व्यय लिया जायगा तो सोने तथा सोने की मुद्राओं में कीमतों की समता नहीं रहेगी। उस आसानी से लोग सोना गलाकर सोने की मुद्राएँ और मुद्रा गलाकर सोना न प्राप्त कर सकेंगे जिस आसानी से कि वे कृपान्वित मुद्रानिर्माण विधि में प्राप्त कर सकते हैं।

(३) निस्संदेह कृपान्वित मुद्रानिर्माण विधि में मुद्राएँ विदेश में बहुत संख्या में भेजी जायँगी। परन्तु यह तो दोष के स्थान पर उस विधि का गुण ही है जैसा कि पूर्व में लिखा जा चुका है।

(४) असली बात तो यह है कि कृपान्वित मुद्रानिर्माण के अनुसार जो मुद्रा विदेश में जाती है, वह पुनः उसी देश में लौटकर आ जाती है। व्यापारी लोग विदेशी मुद्राओं को ही पहले देते हैं। जब वह देश में नहीं रह जातीं, तब स्वदेश की मुद्राएँ विदेश में भेज दी जाती हैं। इंग्लैंड का यह अनुभव है कि प्रायः उसकी स्वर्णमुद्राएँ विदेश से पुनः स्वदेश में लौट आती हैं।

(५) मुद्रानिर्माण व्यय लेने का सब से बड़ा दोष यह है कि व्यापारी लोग उस व्यय को ग्राहकों पर ही कर-प्रक्षेपण के अनुसार फेंकेंगे। इससे व्यापार में बहुत ही अधिक रुकावटें आवेंगी।

दूसरा परिच्छेद

मुद्रा का व्यवहार

१—मुद्रा तथा उसके प्रचार का सिद्धांत

विनिमय के माध्यम या प्रचलित मुद्रा में वही साधक पदार्थ (Instrumental goods) सम्मिलित हैं जो कि क्रय-विक्रय, ऋणादान या ऋण-संशोधन में काम आते हैं। प्रायः यह भी देखने में आया है कि साधक पदार्थों के स्थान पर प्रत्यक्ष भोग योग्य पदार्थों (Goods of direct Consumation) के द्वारा व्यवहार का काम किया जाता है। ऐसी दशा में वे पदार्थ विनिमय का माध्यम नहीं होते। बहुत से ऐसे भी पदार्थ हैं जो कि विनिमय के माध्यम हैं और जिनके ऐसा होने में किसी को भी संदेह नहीं होता। यही पदार्थ मौद्रिक पदार्थ या मुद्रा (Currency) के नाम से पुकारे जाते हैं। विनिमय के माध्यम में कुछ ऐसे पदार्थ भी हैं जिनमें अपनापन कुछ भी नहीं है और जो प्रकाशक की साख पर ही चलते हैं; पर उनको मुद्रा का नाम नहीं दिया जाता। यही कारण है कि आजकल विनिमय के माध्यम को निम्नलिखित भागों में विभक्त किया जाता है।

(१) साधारण व्यवहार का माध्यम। इसी का दूसरा नाम मुद्रा है। इसमें निम्नलिखित पदार्थ सम्मिलित हैं:—

(क) धातविक मुद्रा (Metallic Money)

(ख) अपरिवर्त्तनशील पत्र मुद्रा (Inconvertible Paper Money)

(ग) मौद्रिक धातु की धरोहर का प्रमाणपत्र (Certificates of Deposit of Metallic Money)

(घ) साख पर आश्रित नोटों के सदृश कागजी मुद्रा।

(२) विशेष व्यवहार का माध्यम। इसमें निम्न लिखित पदार्थ सम्मिलित हैं—

(क) वह हुंडियाँ जो कि बैंक के या सरकारी कागज की तरह सुगमता से ही व्यवहार में नहीं चलतीं, परंतु विनिमय के माध्यम का काम करती हैं।

(ख) संपत्ति तथा पदार्थ की राशि को प्रकट करनेवाले पूँजीपत्र (Securities).

इस वर्गीकरण से स्पष्ट है कि मुद्रा तथा विनिमय का माध्यम कोई एक या एक सदृश पदार्थ नहीं हैं। अनेक ऐसे देश हैं जिनमें भिन्न भिन्न धातुओं की मुद्राएँ सरकारी कागजों तथा व्यापारी हुंडियों के साथ साथ प्रचलित हैं और किसी प्रकार की भी खटखट नहीं पैदा होती। इतिहास में ऐसे राष्ट्रों का वर्णन भी मिलता है जिन्होंने एक ही धातु की मुद्रा से काम चलाने का यत्न किया। लेसी डीमान में चिरकाल तक लोहे की और कुछ प्राचीन राष्ट्रों में एक मात्र तांबे की ही मुद्राएँ चलती थीं। आजकल ऐसी घटना नष्ट-मूल्य कागजी सिक्के

(Depreciated Paper Money) को चलानेवाले राष्ट्रों में ही देखी जाती है। अमेरिका में भ्रातृ युद्ध के दिनों में सरकारी तथा बैंक के कागज ही संपूर्ण व्यवहार के साधक बन गए थे। पाँच सेंट तक के व्यवहार में नोट ही दिया जाने लगा था। यह इस बात का अच्छा सबूत है कि भ्रातृयुद्ध में अमेरिका में कागजी सिक्का ही एक मात्र सिक्का था।

आम तौर पर मुद्रा अनेक प्रकार की ही होती है। आमदनी तथा लेनदेन के परिमाण की भिन्नता ही इसका मुख्य कारण है। सुगमता से सिक्के को काम में ले आ सकना भी एक ऐसी बात है जिसको भुलाया नहीं जा सकता। एक ही सिक्के से सब प्रकार के व्यवहार करना कठिन काम है। एक लाख रुपए के कर्जे को पैसों में चुकाना सुगम नहीं है। इसी प्रकार एक पैसे की चीज़ का दाम चाँदी की मुद्रा में चुकाना कल्पना में नहीं लाया जा सकता। भारत तथा चीन में पैसे तथा अधेले चलते हैं। इंग्लैंड में इनका चलना असंभव है; क्योंकि वहाँ भारत तथा चीन के सदृश चीजें सस्ती नहीं हैं।

यही कारण है कि उत्तम विनिमय का माध्यम वहाँ ही समझा जाता है जहाँ भिन्न भिन्न आमदनी के लोगों की भिन्न भिन्न जरूरतों के अनुसार अनेक प्रकार की मुद्राएँ हों। यदि केवल कागजी मुद्रा से ही संपूर्ण काम किए जायँ तो खतरा चढ़ जाय, क्योंकि उसका अपना कुछ भी मूल्य नहीं है। कल्पित मूल्य का पदार्थ आधार के कमजोर पड़ते ही मूल्यहीन हो

जाता है। सोने, चाँदी या ताँबे में यह बात नहीं है। उनका अपना अपना मूल्य है। सभी राष्ट्रों ने उनको उत्तम मुद्रा भी इसी लिये माना है। आजकल विनिमय के उत्तम माध्यम का वर्गीकरण साधक पदार्थों के कीमतीपन को सामने रखकर किया जाता है।

(१) प्रथम श्रेणी की मुद्रा सोने चाँदी की समझी जाती है।

(२) द्वितीय श्रेणी की सहायक मुद्राएँ हैं जो कि प्रथम श्रेणी की मुद्रा की धातु से भिन्न धातु की होती हैं। स्वर्ण-प्रधान राष्ट्रों में चाँदी तथा ताँबे की ही सहायक मुद्राएँ होती हैं। सहायक मुद्राओं में भी एक भेद तुच्छ मुद्रा का है। पाँच सेंट का निकल का और एक पाई का ताँबे का सिक्का तुच्छ मुद्रा समझा जाता है।

धातविक मुद्राओं के सदृश ही पत्र-मुद्रा का भी प्रचार है। इसका गुण यह है कि राष्ट्रीय लेनदेन में यह बहुत ही अधिक सहायता देती है। यह बहुत कम खर्च में तैयार होती है और मनमानी कीमत की बनाई जा सकती है। अधिक से अधिक दाम की भी पत्र-मुद्रा सुगमता से ग्रहण की जा सकती है।

पत्र-मुद्रा के सदृश ही वैयक्तिक हुंडियाँ भी लेनदेन में चलती हैं। इनके निम्नलिखित भेद ध्यान देने के योग्य हैं।

(क) चेक (Cheques)

(ख) बैंक ड्राफ्ट्स (Bank Drafts)

(ग) विनिमय बिल (Bill of Exchange).

(घ) व्यवहार साध्य पूँजीपत्र (Negotiable Securities)

आजकल चेकों तथा बैंक ड्राफ्टों का प्रयोग वहुत ही अधिक वढ़ गया है। सन् १६०३ की संशोधक गृहों की सूचना से मालूम पड़ता है कि अकेले अमेरिका में लगभग ११४०६८८३७५६६ डालर का व्यवहार इन्हीं चीजों के द्वारा किया गया। वैंकों के हिसाव किताव से भी यही सिद्ध हुआ है कि अमेरिका में ६० प्रति शतक काम साख पत्रों के द्वारा और १० प्रति शतक काम धातविक मुद्राओं से होता है। १८६६ के अन्वेषण ने भी ७५ प्रति शतक व्यवहार का आधार साख-पत्रों को ही प्रकट किया है। इसके सात साल बाद अमेरिका में ४·६८ प्रति शतक व्यवहार ही मुद्रा के क्षेत्र में रह गया और संपूर्ण कार्य्य तथा व्यवहार साख के क्षेत्र में आ गया।

चेकों, बैंक ड्राफ्टों तथा विनिमय बिलों के सदृश ही व्यवहार-साध्य पूँजीपत्रों का राष्ट्रीय लेनदेन में विशेष भाग है। पत्र-मुद्रा तथा पूँजीपत्र में जो भेद है, वह यही है कि पत्र मुद्रा का क्षेत्र सब पदार्थों तक और पूँजीपत्र का क्षेत्र विशेष पदार्थों तक विस्तृत है। पूँजीपत्रों का कार्य्य तथा महत्व शेयर बाजार (Share Market) में वहुत ही अधिक प्रत्यक्ष है। १८६६ की २३ जनवरी को एक मात्र न्यूयार्क में ३५०६००८८० डालर दाम के ५००६६०० हिस्से वेचे गए थे। लेनदेन में ७३५००० हिस्से तथा ७२४५०० डालर के द्वारा हिसाव चुकता किया गया।

धातविक मुद्रा में भी तीन भेद हैं जो ध्यान योग्य हैं। वे इस प्रकार हैं:—

(क) मुख्य या प्रामाणिक मुद्रा (Standard Money)

(ख) आधार-मुद्रा (Money of Account)

(ग) चलतू मुद्रा (Current Money)

(क) मुख्य या प्रामाणिक मुद्रा। जिस मुद्रा के आधार पर अन्य मुद्राओं की कीमतें हों, उसको प्रामाणिक मुद्रा समझा जाता है। प्रामाणिक मुद्रा स्वर्ण की ही होती है।

(ख) आधार मुद्रा। आधार मुद्रा वह मुद्रा है जिसके आधार पर सरकारी हिसाब-किताब तथा लेन-देन हो। भारत में आधार मुद्रा रुपया है। अमेरिका में भी प्रामाणिक मुद्रा स्वर्ण है, परन्तु आधार मुद्रा चाँदी का डालर ही है।

(ग) चलतू मुद्रा। चलतू मुद्रा वही है जो राष्ट्र में विशेष तौर पर व्यवहार का साधन हो। आजकल सभ्य राष्ट्रों में चलतू मुद्रा प्रायः कागजी सिक्का ही है, जैसा कि अमेरिका के दृष्टांत से सिद्ध किया जा चुका है।

मुद्रा के इन तीन भेदों में प्रामाणिक मुद्रा का भेद विशेष तौर पर ध्यान देने योग्य है। राष्ट्र में प्रामाणिक मुद्रा ही अपरिमित सीमा तक लेनदेन का आधार होती है। अन्य गौण या सहायक मुद्राओं की यह बात नहीं है। भारत में पैसों या अठन्नियों में लाखों रुपयों का लेन-देन नहीं चुकता किया जा सकता। यहाँ रुपया ही प्रामाणिक मुद्रा है और इसी लिये

इसको रजत-प्रधान देश कहा जाता है। इंग्लैंड स्वर्ण-प्रधान देश है। वहाँ भारी लेन-देन स्वर्ण मुद्राओं में ही होता है। अमेरिका में स्वर्ण तथा रजत की मुख्य मुद्राएँ प्रामाणिक मुद्राएँ हैं। राष्ट्रीय लेन-देन अपरिमित सीमा तक उन्हीं धातुओं की मुख्य मुद्राओं में किया जा सकता है।

यह पूर्व में ही लिखा जा चुका है कि भिन्न आमदनी ही भिन्न भिन्न प्रकार की मुद्राओं के प्रयोग का मुख्य कारण है। अभी तक संसार के भिन्न भिन्न राष्ट्रों ने मुद्रा की पाँच प्रणालियों में से किसी न किसी प्रणाली से ही काम चलाया है। जेवन्ज के अनुसार मुद्रा की पाँचों प्रणालियाँ इस प्रकार हैं:—

(१) भारमुद्रा प्रणाली (Currency by Weight)

(२) राज्यांकित मुद्राप्रणाली (Unrestricted Currency by Tale)

(३) एकधातवीय प्रामाणिक मुद्राप्रणाली (Single Legal Tender System)

(४) वहुधातवीय प्रामाणिक मुद्राप्रणाली (Multiple Legal Tender System)

(५) सम्मिलित प्रामाणिक मुद्राप्रणाली (Composite Legal Tender System)

अब क्रमशः एक एक प्रणाली पर विचार किया जायगा।

(१) भार मुद्राप्रणाली। भार मुद्राप्रणाली में राज्य सोने या चाँदी की तोल तथा माप को ही नियत करता है। लेन-देन उसी

तौल तथा माप के आधार पर चलता है। चंद्रगुप्त के समय में भारत में यही प्रणाली प्रचलित थी। स्वर्ण तथा चाँदी की तौल राज्य द्वारा नियत थी। उसी तौल के अनुसार सारा लेन-देन होता था। प्राचीन कर्ष, पण, गुंजा, निष्क, शतमान, धरण, स्वर्ण, पुराण आदि तौल थे जिनके अनुसार सोना तथा चाँदी पदार्थ के तौर पर बिकती थी। विनिमय के माध्यम तो वे अप्रत्यक्ष रूप से थे। यही प्रणाली प्राचीन यहूदियों तथा यूनानियों में प्रचलित थी। बाइबिल में* तथा अरस्तू के पालिटिक्स में† भारमुद्रा प्रणाली का स्थान स्थान पर उल्लेख है। अर्वाचीन राष्ट्रों में चीन, वर्मा आदि भारमुद्राप्रणाली के द्वारा सोने चाँदी का व्यवहार करते हैं। कोचीन-चीन में सोने चाँदी का व्यवहार तौल से है और यात्रियों को सोना खरीदने में प्रायः धोखा खाना पड़ता है; क्योंकि तुला ठीक नहीं होती।

(२) राजयांकित मुद्रा प्रणाली। भार-मुद्रा प्रणाली के बाद राज्य सोने चाँदी के छोटे छोटे टुकड़ों को समान तौल-माप का बनाकर राष्ट्र में प्रचलित कर देते हैं। सराफ-साहूकारों के द्वारा उनका दाम नियत होता रहता है और सोने

---

* Genesis xxiii. 16.

† Politics by Airstotle. Book. I. Chap. ix.

चाँदी के मूल्य के अनुसार ही वह लेनदेन में चलते हैं। फ्रांस के राज्यक्रांतिकारक राज्य ने इसी प्रणाली का अवलंबन किया था। प्राचीन काल में जिन राष्ट्रों में इस प्रणाली का प्रचार था, उनमें भिन्न भिन्न जातियों के सिक्के समान तौर पर चलते थे। सराफों तथा साहूकारों का पेशा बहुत बड़ी आमदनी का साधन था। आज से कुछ समय पहले अफ्रीका के पच्छिमी किनारे के देशों में स्पैनिश डालर के साथ साथ डैनिश, फ्रांसीसी तथा डच सिक्के भी चलते थे। यही दशा दक्खिनी अमेरिका की कुछ रियासतों में थी। ईरान में भी सिक्का गड़बड़ था। उसमें राष्ट्रीय सिक्कों के साथ साथ रूस, टर्की तथा आस्ट्रिया के सिक्के बहुत अधिक चलते थे। मुसलमानी जमाने में भारत में सैकड़ों प्रकार के सिक्के चलते थे और अंतर्गत धातु के बाजारी दाम के अनुसार उनका लेनदेन में व्यवहार होता था।

(३) एक-धातवीय प्रामाणिक मुद्रा प्रणाली। राष्ट्रों के इतिहास में ऐसा भी समय आ चुका है जब कि उन्होंने एक धातु के सिक्के के द्वारा ही सारा कारोबार किया है। लेसिडीमान में अति प्राचीन काल में लौह-शलाकाएँ ही मुद्रा के तौर पर चलती थीं। भारत में वैदिक काल में लोहे का सिक्के के तौर पर व्यवहार था। चीन में भी चिर काल तक पीतल के टुकड़े तथा शला-

काएँ लेनदेन का साधन थीं। रूस तथा स्वीडन में एक सदी पहले ताँबा ही मुख्य मौद्रिक धातु थी।

एकधातवीय प्रामाणिक मुद्रा प्रणाली की सबसे अधिक अच्छाई यह है कि यह सरल है। इसमें किसी को कभी धोखा नहीं होता। इसमें एक दोष भी है। वह यह कि यह सब प्रकार के लेनदेन का साधक नहीं हो सकती। यदि धातु सस्ती हो तो उसके द्वारा भारी लेनदेन नहीं होता; और यदि धातु बहुमूल्य तथा मँहगी हो तो छोटे छोटे व्यवहारों में कठिनाई उपस्थित होती है। यदि भारत में आजकल एक मात्र ताँवे के सिक्के ही प्रचलित कर दिए जायँ तो कलकत्ते से बनारस तक टिकट लेने में बहुत से पैसे गिनने पड़ें और यात्रा की आर्थिक कठिनाइयों से बचने के लिये कई सेर पैसों का बोझ लादना पड़े। किसी विपत्ति में पड़कर यदि राज्य किसी एक धातु की मुद्रा का अवलंबन करे भी, तो भी राष्ट्र अपनी सुगमताओं के लिये अनेक धातुओं के सिक्कों को विनिमय का माध्यम बना ही लेगा।

(४) बहुधातवीय प्रामाणिक मुद्राप्रणाली। एकधातवीय प्रामाणिक मुद्रा-प्रणाली की कठिनाइयों से ही भिन्न भिन्न राष्ट्रों ने बहुधातवीय मुद्राप्रणाली का अवलंबन किया। जिन राष्ट्रों में सराफों तथा साहूकारों की संख्या बहुत अधिक थी और राज्य प्रत्येक कार्य्य में हस्तक्षेप करता था,

उनमें राजकीय घोषणाओं से ही भिन्न भिन्न धातुओं के परिवर्तन का अनुपात नियत होता रहता था। इस प्रणाली में सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि ग्रेशम के नियमों के अनुसार सस्ती धातु मँहगी धातु के सिक्कों को व्यवहार से बाहर कर देती है। फ्रांस, अमेरिका तथा लैटिन यूनियन का इतिहास इस बात का ज्वलंत उदाहरण है।

(५) सम्मिलित प्रामाणिक मुद्राप्रणाली । बहुधातवीय प्रामाणिक मुद्राप्रणाली के दोष से बचने के लिये और ग्रेशम के नियम को कार्य्य रूप में परिणत होने से रोकने के लिये कई राष्ट्रों में सम्मिलित प्रामाणिक मुद्राप्रणाली का सहारा लिया गया है। दृष्टांत स्वरूप भारत को ही लीजिए। भारत में चाँदी का सिक्का प्रामाणिक सिक्का है। विदेशी लेन-देन के लिये सरकार की ओर से सोने के सिक्के में उसका दाम नियत है। व्यापारीय संतुलन तथा सोने चाँदी के बाजारी दाम के अनुसार व्यवहार में यह अनुपात बदलता रहता है। परंतु विनिमय की दर अनुपात से बहुत दूर नहीं खिसकती। अंतरीय व्यापार तथा आर्थिक व्यवहार में भारत में चाँदी का रुपया ही प्रामाणिक सिक्का है। ग्रेशम के नियम से राष्ट्र को बचाने के लिये और चाँदी के सिक्कों को गलाए जाने से रोकने के लिये भारत सरकार ने

लड़ाई से पहले रुपए में बाजारी दाम से कम चाँदी रखी थी। इसमें जाली सिक्के बनाए जाने का ही खतरा था और जाली सिक्के बने भी। सरकारी प्रबंध के उत्तम होने से बहुत गड़बड़ न हुई। लड़ाई के दिनों में चाँदी महँगी होने से रुपयों का गलाना लाभ का व्यवसाय हो गया। इससे सरकार को बहुत सी असुविधाएँ झेलनी पड़ीं। फ्रांस, बेल्जियम, स्विट्जलैंड तथा इटली में भी इसी प्रणाली का प्रचार है। अमेरिका ने भी इसी का अवलंबन किया है।

धातवीय मुद्राप्रणाली के सदृश ही कागजीय मुद्राप्रणाली भी तीन प्रकार की है। तथा—

(१) प्रतिनिधि पत्रमुद्रा (Representative Paper Money)

(२) साख आश्रित पत्रमुद्रा (Fiduciary Paper Money)

(३) कल्पित पत्र मुद्रा (Fiat Paper Money)

इनमें से प्रतिनिधि पत्रमुद्रा वह पत्रमुद्रा है जिसके बदले खजाने या संदूक में धातविक मुद्रा या धातु रख ली जाय और इसके बाद उसको जनता में प्रचलित किया जाय। यही बात साख आश्रित पत्र-मुद्रा में भी है। दोनों में भेद यही है कि साख आश्रित पत्रमुद्रा, व्यक्ति, कंपनी, बैंक या राज्य की साख पर ही निकलती है और उस पर यह लिखा रहता है

कि दिखाने पर या लाने पर इसके बदले अमुक धन की राशि धातवीय मुद्रा में दे दी जायगी। वस्तुतः उसके बदले खजाने या संदूक में कुछ भी धन जमा नहीं किया जाता। कल्पित पत्रमुद्रा तो सचमुच ही कल्पित होती है। उस पर लिखा तो यही रहता है कि उसके बदले अमुक धन की राशि दे दी जायगी; परन्तु उसके देने का इरादा मुद्रासंचालक के दिल में नहीं होता।

ये तीन प्रकार की पत्रमुद्राएँ प्रामाणिक तथा कोश-प्रवेश्य (Legal Tender) हो सकती हैं और उनका संचालन बैंक तथा कंपनी के द्वारा किया जा सकता है। यह भी संभव है कि पत्रमुद्रा तथा धातविक मुद्रा भारत के सदृश अन्य राष्ट्रों में समान रूप से चलें और सब प्रकार के व्यवहार का साधन हों। अमेरिका में ग्रीन बैंक तथा ट्रैपरी नोट स्वर्ण तथा रजत की मुद्राओं के साथ ही साथ चलते हैं।

मुद्रा का प्रयोग क्यों है? क्यों जनता मुद्राओं को व्यवहार में स्वीकृति करती है? इस प्रश्न के उत्तर में चार कारण बतलाए जाते हैं जो इस प्रकार हैं:—

(क) समाज की स्थिरता में विश्वास तथा समाज का स्वभाव।
(ख) मुद्रा-संचालक की साख।
(ग) राज्यनियम तथा राज्याधिकार।
(घ) व्यक्तियों का समझौता तथा पारस्परिक पण।

विषय को स्पष्ट करने के लिये अब क्रमशः एक एक पर विचार किया जायगा।

(क) समाज की स्थिरता में विश्वास तथा समाज का स्वभाव। समाज की स्थिरता में विश्वास मुद्रा के प्रचार का मुख्य कारण है। स्वर्ण के विषय में यह कहा जाता है कि सभी लोग उसको चाहते हैं; क्योंकि उसकी सार्वजनिक माँग है। अतः उसकी मुद्राओं की माँग भी अधिक है और उसका मूल्य भी चिरस्थायी है। यदि इस पर गंभीर विचार किया जाय तो स्पष्ट होगा कि समाज के स्वर्ण-संबंधी विचार तथा स्वभाव के साथ साथ समाज की सत्ता को लोग चिरस्थायी तथा अविनाशी समझते हैं। इसी लिये उसकी मुद्राएँ बिना किसी रोक-टोक के चलती रहती हैं।

(ख) मुद्रासंचालक की साख। मुद्रासंचालक की साख भी मुद्रा के प्रचार में एक मुख्य कारण है। बैंक जब अपने नोट प्रचलित करते हैं, तब लोग यही समझकर उनको ग्रहण करते हैं कि जरूरत पड़ने पर उनके बदले रुपया मिल जायगा। यदि किसी बैंक की साख नष्ट हो जाय तो कोई उसके नोटों को ग्रहण न करे।

(ग) राज्यनियम तथा राज्याधिकार। लेनदेन तथा ऋणों को चुकता करने में राज्यनियम तथा राज्याधिकार का विशेष भाग है। राज्य के द्वारा जो मुद्रा प्रामाणिक नियत हो जाती है, उसी में ऋण संशोधन तथा बड़ी मात्रा का

लेन-देन किया जाता है। राज्यकर में उसका ग्रहण होना भी उसके प्रचार में एक मुख्य कारण है। चाणक्य ने तो प्रामाणिक मुद्रा का नाम भी कोश-प्रवेश्य मुद्रा दिया है जिसका भाव यह है कि वही मुद्रा प्रामाणिक मुद्रा है जो कोश में ग्रहण की जाय।

(घ) व्यक्तियों का समझौता तथा पारस्परिक पण। कई लेखकों का विचार है कि व्यक्तियों ने समझौता करके भिन्न-भिन्न प्रकार की मुद्राओं को प्रचलित किया। संभव है कि यह विचार सत्य हो। परन्तु इसमें संदेह नहीं कि इतिहास में इसका कोई दृष्टांत नहीं मिलता। यदि कोई घटना इसके कुछ कुछ समीप पहुँचती है तो वह एक मात्र लैटिन यूनियन की घटना है। यदि अंतर्जातीय सभा मुद्रा के मामले में निर्णय दे और सब जातियाँ उसको स्वीकृत करें, तो मुद्रा के प्रचार में समझौता या पारस्परिक पण भी कारण बन जाय। पर अभी तक तो इसकी सच्चाई संदिग्ध ही है।

इन चारों कारणों में कौन सा कारण प्रधान और कौन सा कारण गौण है, इसका निर्णय दुःसाध्य है। जो कुछ संक्षेप में कहा जा सकता है, वह यही है कि मुद्रा के प्रचार का प्रथम कारण यह विश्वास है कि दूसरे लोग उसको ग्रहण करेंगे। जितना यह विश्वास विस्तृत होगा, मुद्रा के प्रचार का क्षेत्र भी उतना ही विस्तृत होगा। यदि मुद्रासंचालक कोई

एक व्यक्ति है जिसकी साख परिमित है, तो उसका प्रचार भी परिमित सीमा तक ही होगा। परंतु यदि किसी चीज की मुद्रा समाज के स्वभाव पर चल रही है, तो सोने की मुद्रा के सदृश उसकी सीमा विस्तृत होगी।

२—ग्रेशम का नियम

मुद्रा के गमनागमन के संबंध में ग्रेशम का नियम महत्त्वपूर्ण है। महारानी एलिजवेथ के काल में ग्रेशम इंगलैंड का कोषाध्यक्ष था। देश में अनेक प्रकार की मुद्राएँ प्रचलित थीं। उनमें से कुछ घिसी हुई और निकृष्ट तथा कुछ नवीन और उत्कृष्ट थीं। ग्रेशम ने देखा कि प्रजा द्वारा कोष में निकृष्ट मुद्राएँ ही भेजी जाती हैं और उत्कृष्ट मुद्राएँ विदेश में लेन-देन चुकता करने के लिये भेज दी जाती हैं। इस घटना को उसने एक नियम समझकर सूत्र बनाया कि 'निकृष्ट मुद्रा उत्कृष्ट मुद्रा को राष्ट्रीय व्यवहार तथा प्रचार से पृथक् कर देती है।' निकृष्ट मुद्रा से ग्रेशम का तात्पर्य्य बहुत घिसे हुए, कुरूप, हल्के सिक्के से और उत्कृष्ट मुद्रा से अभिप्राय नवीन चमकते हुए सिक्के से था। ग्रेशम का सिद्धांत किस अंश में दोषयुक्त है, इस पर प्रकाश डालने से पूर्व यह लिख देना आवश्यक प्रतीत होता है कि यह सिद्धांत भी नवीन नहीं है।

अति प्राचीन काल में सबसे पहले इस घटना को अरिस्टाफैनीज ने देखा था। उसने निम्नलिखित कविता में इसी घटना का बहुत ही उत्तम रूप से वर्णन किया है—

Oftentimes have we reflected on a similar abuse
In the choice of men for office, and of coins for
common use.
For your old and standard pieces, valued and
approved and tried,
Here among the Grecian nations, and in all the
world beside,
Recognized in every realm for trusty stamp and
pure assay,
As rejected and abandoned for the trash of yes-
terday;
For a vile, adulterate issue, drowsey, counterfeit
and base,
Which the traffic of the city posses current in
their place.
Aristophanes, Frogs, 891-896 (Frere's Translation).

अर्थात् "मुद्रा तथा राज्याधिकारी के चुनाव में यह बात हमने आम तौर पर देखी है कि यूनान में तथा अन्य दूरवर्त्ती राष्ट्रों में प्राचीन, प्रामाणिक, बहुमूल्य, परीक्षा तथा कसौटी पर परखी गई और प्रत्येक राष्ट्र में पवित्रता तथा स्वच्छता के लिये प्रसिद्ध बहुमूल्य मुद्राओं तथा योग्य योग्य व्यक्तियों के स्थान पर निकृष्ट, जाली, धोखेबाज, मिलावटी, निकृष्ट मुद्राएँ

तथा अविश्वनीय मनुष्य ही चुने जाते हैं और नगर का संपूर्ण कार्य्य उन्हीं के द्वारा किया जाता है।" इसी को मुद्रा के संबंध में इस प्रकार लिखा जा सकता है कि "राष्ट्र का व्यवहार निकृष्ट मुद्राओं के द्वारा ही होता है और उत्कृष्ट मुद्राएँ राष्ट्रीय व्यवहार का अंग नहीं होतीं"। सन् १३६४ में निकोली आरेस्म ने मुद्रा पर सबसे पहला ग्रंथ लिखा था। उसने मुद्रा के इस नियम के संबंध में लिखा है कि "राज्य द्वारा नियत विनिमय के अनुपात से यदि दो भिन्न भिन्न धातुओं की मुद्राओं के बाजारी दाम वा अनुपात भिन्न हो जायँ, तो एक धातु की मुद्रा व्यवहार से पृथक् हो जाती है।" इसी प्रकार १५२६ में कापर्निकस ने मुद्रा के संबंध में यही सिद्धांत किया। वह लिखता है कि "घिसी हुई, निकृष्ट तथा पूर्ण भार से युक्त चमकती हुई नवीन उत्कृष्ट मुद्रा एक साथ चलना असंभव है। उत्कृष्ट मुद्राएँ प्रायः संदूक वा जमीन में गाड़ी जाती हैं, गला दी जाती हैं या परराष्ट्रों में भेज दी जाती हैं; और निकृष्ट मुद्राएँ व्यवहार का साधन बनी रहती हैं।"

स्पष्ट है कि ग्रेशम से बहुत पहले ही अरिस्टोफैनीज, निकोली आरेस्म तथा कापर्निकस ने मुद्रा के प्रचार के ये सिद्धांत स्थिर कर दिए थे। परंतु शुरू शुरू में अर्थ-शास्त्रज्ञों की आँखों के सामने ग्रेशम का सिद्धांत ही आया; अतः इसको ग्रेशम के नाम से ही पुकारा जाता है। महाशय जेवंज ने लिखा है कि "साधारणतया जनता मुद्राओं के भेद को नहीं

देखती। परंतु सराफ, साहूकार और बैंकर इसी भेद से लाभ उठाते हैं। यह लोग या तो उत्तम मुद्राओं को गला देते हैं और या विदेश में भेज देते हैं। इन्हीं के लोभ से जनता में निकृष्ट मुद्राएँ ही चलती रहती हैं।"*

ग्रेशम का नियम अद्भुत है। साधारणतया जनता उत्कृष्ट पदार्थ को ग्रहण करती है और निकृष्ट पदार्थ का परित्याग करती है। मुद्रा के विषय में इसके विपरीत नियम है। जनता निकृष्ट मुद्रा लेती है और उत्कृष्ट मुद्रा को विदेश में चले जाने देती है। वस्तुतः बात यह है कि मुद्रा का स्वामी क्रेता के स्थान पर विक्रेता होता है। वह निकृष्ट मुद्रा को इसलिये अपने पास रखता है कि उससे भी उसका काम चल सकता है; और उत्कृष्ट मुद्रा को व्यवहार में दूसरे को दे देता है क्योंकि उसके बदले में उसको अधिक पदार्थ मिल सकता है। प्रायः समान पदार्थों का समान ही मूल्य होता है। असमान पदार्थों का समान मूल्य बहुत कम देखा गया है। माँग के बहुत अधिक होने पर ही ऐसा होता है, पर शर्त यह है कि उपलब्धि माँग को पूरा करने में सर्वथा ही असमर्थ हो। असमान मूल्य की मुद्रा में प्रायः यही नियम काम करता है। यदि मुद्रा की माँग देश में बहुत अधिक न हो या कम से कम इतनी अधिक न हो कि निकृष्ट तथा उत्कृष्ट मुद्रा का समान तौर पर प्रयोग किया जा सके, तो उत्कृष्ट मुद्रा को लोग सँभालकर घरों में रख लेंगे

† Money & Mechanisn of Exchange, PP. 80-83.

और निकृष्ट मुद्रा को लेनदेन में चलता कर देंगे। परंतु यदि यह बात न हो और व्यापार-व्यवसाय की तेजी इस सीमा तक पहुँच गई हो कि राष्ट्र में चलती हुई निकृष्ट तथा उत्कृष्ट मुद्राएँ आर्थिक माँग को पूरा करने में असमर्थ हों, तो ग्रेशम का नियम न काम करेगा। दोनों ही मुद्राएँ लेनदेन में एक सदृश चलेंगी। यदि माँग घरेलू मुद्राओं की राशि से बहुत अधिक हो तथा धातविक उत्कृष्ट मुद्रा की कीमत धातु की बाजारी कीमत से ऊपर जाने की ओर झुके तो परराष्ट्र से उत्कृष्ट मुद्राएँ देश में आ जायँगी और उत्कृष्ट मुद्रा की कीमत को चढ़ने से रोक देंगी।

लोक-प्रथा तथा जातीय स्वभाव भी बहुधा ग्रेशम के नियम को कार्य्य रूप में परिणत होने से रोकता है। गृह्य युद्ध में कैलिफोर्निया की जनता ग्रीन बैक नोट के ग्रहण करने के पक्ष में न थी। इसका परिणाम यह हुआ कि कैलिफोर्निया में स्वर्ण की मुद्राएँ ही चलती रहीं, जब कि सारे देश में कागजी सिक्का था। बहुधा राज्य-नियम भी ग्रेशम के नियम को व्यवहार में नहीं आने देते। महाशय किंले ने लिखा है कि कुछ समय पहले अमेरिका में यह नियम प्रचलित था कि बैंकों में जनता का धन न रखा जाय और बैंक-नोटों को राज्यकोष में ग्रहण न किया जाय। इससे जनता में स्वर्ण की मुद्रा चलती रही। कम दाम के बैंक-नोट उसको व्यवहार से पृथक् न कर सके।*

---

* Kinley, "The Independent Treasury of the United States". P. 62.

ग्रेशम ने धातविक मुद्राओं के संबंध में ही नियम दिया था। परंतु पत्र-मुद्रा तथा धातविक मुद्रा के विषय में भी यह नियम किसी अंश तक काम करता है। गृहयुद्ध में अमेरिकन राज्य ने ग्रीन वैक नामक नोटों का अपरिमित संख्या में प्रचार किया। इसका परिणाम यह हुआ कि लेनदेन में स्वर्ण मुद्राओं का व्यवहार न रहा। १८६० की १४ जुलाई के शर्मन ला से भी यही घटना हुई। इस नियम के अनुसार अमेरिका ने चालीस लाख आउंस चाँदी प्रतिमास खरीदनी शुरू की और उसके स्थान पर नोटों को निकालना शुरू किया। ख्याल तो यह था कि नोटों को अधिक संख्या में निकालकर कीमतें चढ़ाई जायँ; परंतु इसका कुछ भी फल न हुआ। जितने धन के नोट निकले, उतने ही धन के सोने के सिक्के देश से बाहर निकल गए। दृष्टांत स्वरूप १८६३ की जुलाई में १४०६६१६६४ डालर के नोट निकाले गए और १४१०१७१५८ डालर की स्वर्ण मुद्राएँ देश से बाहर निकल गईं।

जनता विना सोचे विचारे ही मुद्रा का व्यवहार करती है। ग्रेशम का नियम भी मुद्रा के विषय में इसी कारण लगता है। जिस मुद्रा से जनता परिचित होती है, उसी को वह ग्रहण करती है। आष्ट्रिया का कुछ ऐसे देशों के साथ व्यापार था जो मेरिया थेरेसा के सिक्कों से ही परिचित थे। इसका परिणाम यह हुआ कि व्यापार की सुगमता के लिये आष्ट्रिया को बहुत समय तक नए सिरे से मेरिया थेरेसा के सिक्के बनाने

पड़े। ग्रेशम के नियम पर निम्नलिखित दृष्टांत अच्छी तौर पर प्रकाश डालते हैं।

(१) जापानी कोबैंग तथा इत्जीवस। सन् १८५८ की संधि के समय जापान में सिक्के के संबंध की एक अद्भुत घटना हुई। जापान का सबसे अधिक बहुमूल्य सिक्का कोबैंग था। वह २ इंच लंबा, १¼ इंच चौड़ा और २०० ग्रेन भार का सोने का सिक्का था। जापानी नगरों में उसके बदले चार इत्जीवस नामक चाँदी के सिक्के मिलते थे। जापानी इत्जीवस का अँग्रेजी मुद्रा में १ शि० ४ पेंस और सोने के कोबैंग का अँग्रेजी मुद्रा में मूल्य १८ शि० ५ पेंस था। युरोपीय राष्ट्रों से पृथक् रहने के कारण जापान में चाँदी में सोने का मूल्य युरोप की अपेक्षा केवल एक-तिहाई था। शुरू शुरू में व्यापार करनेवाले अँग्रेजों ने इससे विशेष रूप से लाभ उठाया। वे लोग चाँदी देकर सोने का सिक्का खरीदते थे और उसको गलाकर युरोप भेजते थे। व्यापार में उनको तिगुना लाभ था। जापानियों ने शीघ्र ही इस बात को जान लिया और सोने के सिक्के को व्यवहार का साधन न बनाकर घर में रख लिया।

(२) विलियम तृतीय। इंगलैंड के विलियम तृतीय के राज्य-काल में ग्रेशम नियम का प्रभाव देखा गया। मैकाले ने अपने इंगलैंड के इतिहास में लिखा है कि "विलियम तृतीय के समय में सोने की चद्दर को समान समान टुकड़ों में काटकर और उन टुकड़ों को पीट पाटकर सिक्के बना दिए जाते थे······लोग

उनके चारों ओर के किनारे काटकर लाभ उठाते थे। एलिज-वेथ के राज्यकाल में मुद्रा काटनेवालों के लिये भयंकर राज्य-विधान किया गया। कुछ ही समय के वाद टावर आव् लंडन में एक टकसाल वनाई गई जिसमें उत्तम मुद्राएँ वनाई जाने लगीं......पुरानी निकृष्ट मुद्रा के साथ ही साथ उनको भी प्रचलित कर दिया गया।......आश्चर्य की वात है कि ज्यों ज्यों लंडन टावर से नई नई अच्छी मुद्राएँ निकलती थीं, त्यों त्यों वह गला दी जाती थीं, घरों में संदूकों के अंदर जमाकर दी जाती थीं या परराष्ट्र में भेज दी जाती थीं। लेनदेन में उनमें से एक भी सिक्का नहीं दिखाई पड़ता था......राज्य ने अपराधी स्त्रियों तथा पुरुषों को फाँसी तक पर लटकाया, परंतु नए सिक्के किसी प्रकार भी लेनदेन में न चले। लाचार होकर लाक तथा डडले नार्थ की इच्छा के अनुसार (१६९६ की ४ मई से) पार्लिमेंट ने यह नियम वना दिया कि नए सिक्के ही टैक्स में लिए जायँगे।"* इस नियम का परिणाम यह हुआ कि नए सिक्के देश में चलने लगे।

(३) अमेरिका। अमेरिका में १७९२ तथा १८३४ में ग्रेशम का नियम प्रत्यक्ष हुआ। १७९२ की २ अप्रैल के कायनेज एक्ट् (Coinage Act) से चाँदी और सोने का अनुपात १५:१ था। १७९५ में वाजारी दर १५$\frac{1}{3}$:१ हो गई। १८०८ में यही दर १६:१

* History of England, Chap. XXI

पर आ पहुँची । लोगों ने सोने के सिक्के को गलाकर १६:१ अनुपात में चाँदी खरीदनी शुरू की और इसमें से चाँदी के १५ सिक्कों के बदले १ सोने का सिक्का बाजार या टकसाल से लेकर पुनः उसको गला दिया और उसके बदले चाँदी खरीद ली। इस प्रकार एक पाउंड के गलाने में चाँदी के एक सिक्के का लाभ था। इसका परिणाम यह हुआ कि देश में चाँदी के सिक्के ही लेनदेन में चलते रहे, सोने के सिक्के व्यवहार में न रहे। ग्रेशम के नियम का यह एक अच्छा उदाहरण है।

(४) ग्रीन बैक। गृह्य युद्ध के दिनों में ग्रीन बैक नामक नोटों के प्रचार से धातविक सिक्का व्यवहार में न रहा।

(५) चिली। चिली में १८५१ से १८६० तक सोने चाँदी के सिक्कों में सोने का सिक्का सस्ता था और विनिमय की दर चाँदी के गलाने के अनुकूल थी। इसका परिणाम यह हुआ कि वहाँ चाँदी के सिक्के का अभाव हो गया।

(१) जिन देशों में स्वतंत्र मुद्रानिर्माण न हो, अपितु राज्य आमदनी के खयाल से मुद्राओं को टकसाल से निकालता हो और जनता चाँदी देकर स्वेच्छानुसार मुद्रा बनवाने में असमर्थ हो, उन देशों में मुद्रा गलाई नहीं जाती; क्योंकि मुद्रा में बाजारी दाम से बहुत कम धातु होती है।

(२) यदि मुद्राएँ व्यापार की जरूरत से अधिक हों तो विदेश के लिये रख ली जायँगी और लेन-देन में न चलेंगी। किंतु यदि मुद्राएँ देश की माँग के समान मालूम न हों, तो

ग्रेशम का नियम न लगेगा । निकृष्ट मुद्रा के साथ ही साथ उत्कृष्ट मुद्राएँ भी चलती रहेंगी ।

(३) यदि दो भिन्न भिन्न श्रेणी के विनियम के माध्यम देश में प्रचलित हों, संपूर्ण अवस्थाएँ पूर्ववत् समान हों तथा देश में मुद्रा की माँग कम हो, तो न्यून मूल्यवाली निकृष्ट मुद्रा अधिक मूल्यवाली उत्कृष्ट मुद्रा को लेन-देन में से पृथक् कर देगी और उसका स्थान स्वयं ले लेगी ।

उल्लिखित संपूर्ण अवस्थाओं को ध्यान में रखते हुए ग्रेशम का नियम यह हुआ कि "यदि किसी देश में एक से अधिक सिक्के प्रामाणिक तथा कोशप्रवेश्य हों और उनमें से किसी एक प्रकार का सिक्का विनिमय के माध्यम के सदृश ही अन्य प्रयोगों के लिये अधिकतर उपयोगी हो, तो निकृष्ट या अल्प मूल्यवाली मुद्रा उत्कृष्ट या अधिक मूल्यवाली मुद्रा को बाजार से उस मात्रा में हटा देगी जिस मात्रा में देश की आर्थिक, सामाजिक तथा लोक-प्रथासंबंधी शक्ति उसकी बाधक न हो। यदि अधिक मूल्यवाला सिक्का व्यवहार से पृथक् न होगा तो प्रीमियम या कटौती पर लेन-देन में चलेगा" ।

अमेरिका के मुद्रानिर्माण का मान चित्र भी ग्रेशम के नियम की सत्यता प्रकट करता है । १७९२ से १८३४ तक अमेरिका में सोने की अपेक्षा चाँदी सस्ती थी । इसका परिणाम यह हुआ कि चाँदी के सिक्के अधिक मात्रा में बनवाए गए । १८३० से १८६० तक चाँदी की अपेक्षा सोना सस्ता था । लोगों ने

१८३२
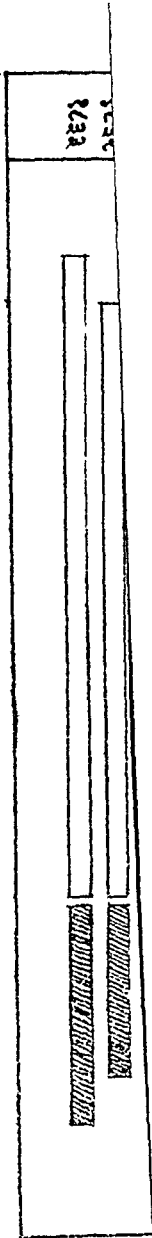
टक्साल से सोने के सिक्के ही बहुमात्रा में बनवाए। [देखो अमेरिकन टक्सालों का मान-चित्र]

३—उत्तम मुद्रा के कार्य्य

मुद्रा के लक्षण में बड़ा मतभेद है। यह पूर्व में ही लिखा जा चुका है कि धातु के आधार पर मुद्रा का लक्षण नहीं किया जा सकता। मुद्रा के कार्य्य तीन प्रकार के हैं—

(१) स्वाभाविक कार्य्यः—(क) विनिमय का माध्यम तथा (ख) मूल्यों का मापक होना।

(२) गौण कार्य्यः—(क) प्रलंबकालीन लेनदेन का साधक (ख) मूल्य परिवर्त्तक (ग) मूल्य धारक।

(३) सामयिक कार्य्यः—(क) सामाजिक आय का विभाग (ख) व्यय संबंधी कार्य्य (ग) साख संबंधी कार्य्य (घ) पूँजी संबंधी कार्य्य।

विषय को स्पष्ट करने के लिये अब क्रमशः एक एक पर विचार किया जायगा।

(१) स्वाभाविक कार्य्यः—(क) विनिमय का माध्यम। शुरू शुरू में मुद्रा का कार्य्य व्यय या भोग योग्य पदार्थों को व्ययियों के पास पहुँचा देना था। मुद्रा के विकास से ही प्राचीन जन-समाज वस्तु विनिमय की कठिनाइयों से बचा। मुद्रा का यह एक ऐसा कार्य्य है जो किसी परिस्थिति के साथ संबद्ध नहीं है। श्रमविभाग, पूँजी-भ्रमण और क्रय-विक्रय को

मुद्रा ने जो सहायता पहुँचाई, वह किसी प्रकार भुलाई नहीं जा सकती।

पदार्थों का विनिमय मुद्रा के विना येनकेन प्रकारेण संभव भी है; परंतु श्रम का विनिमय मुद्रा के विना नहीं हो सकता। मुद्रा का ही यह उपकार है कि उसके प्रयुक्त होने के वाद दास तथा अर्धदास स्वतंत्रता उपलब्ध कर भृतिजीवी श्रमियों में परिवर्त्तित हो गए। मुद्रा ने मनुष्य समाज की स्वतंत्रता में जो काम किया है, उसका ज्ञान इसी से हो सकता है।

इतना होते हुए भी साम्यवादी मुद्रा को सामाजिक अत्याचारों तथा क्रूर व्यवहारों का संचालक यंत्र समझते हैं। धनाढ्य पूँजीपति इसी के द्वारा दरिद्र श्रमियों का गला घोंटते हैं। उनके इस मत पर जो कुछ कहा जा सकता है, वह यही है कि यदि सचमुच ही मुद्रा इतनी भयंकर होती तो कई देशों के राज्य व्यवसाय-पतियों को श्रमियों को मुद्रा में भृति देने के लिये क्यों वाध्य करते ?

(ख) मूल्यों का मापन। विनिमय के माध्यम के सदृश ही मुद्रा मूल्यों की मापक है। मुद्रा के विकास के समय ही यह गुण भी उसमें विद्यमान था। यदि मुद्रा मूल्यों की मापक न हो तो विनिमय का माध्यम भी न हो सके। जो लोग पदार्थों का विनिमय करते हैं, वे पदार्थों का तारतम्य अपनी आँखों के सामने रखते हैं। सोने के वदले एक सेर वालू और चाँदी के बदले एक सेर घास लेने के लिये कोई व्यक्ति तैयार

नहीं हो सकता। यह तभी संभव है जब कि वह चाँदी सोने के मूल्य के बराबर उन पदार्थों को समझे।

बहुत से अर्थ-तत्वज्ञों को इसमें संदेह है। वे मुद्रा को मूल्यों का मापक नहीं समझते। उनका विचार है कि मुद्रा एक साधारण माध्यम है। वह मूल्यों को नहीं मापती। निस्संदेह वह भिन्न भिन्न पदार्थों के तारतम्य को सूचित करती है, परंतु इसका यह मतलब नहीं है कि वह मूल्यों का निर्णय या मापन भी करती है। क्यों सोना बहुमूल्य है और गेहूँ अल्प मूल्य है? क्यों चाँदी की अपेक्षा हीरा बहुमूल्य है? इत्यादि बातों का मुद्रा के साथ कुछ भी संबंध नहीं है। समाज के हृदय में पदार्थ संबंधी तारतम्य के जो विचार हैं, मुद्रा उन्हीं की द्योतक या प्रकाशक है। वह पदार्थों के मूल्य का निर्णय स्वयं किसी हद तक नहीं करती।

उल्लिखित समस्या वस्तुतः मूल्य की समस्या है। मूल्य पदार्थों के विनिमय का अनुपात है। वह किसी पदार्थ से मापा नहीं जा सकता। मुद्रा भी जो कुछ कर सकती है, वह यही है कि दो पदार्थों के तारतम्य को प्रकट करे और उनकी तुलना करे।

दूसरे पक्ष के लोग मूल्य को आनुपातिक संज्ञा नहीं मानते। वह उसको सापेक्षिक या तारतम्य संबंधी क्षेत्र से पृथक् कर सीमांतिक उपयोगिता की घनता के साथ जोड़ते हैं। प्रत्येक पदार्थ में सीमांतिक उपयोगिता है जो किसी

न किसी साधन से मापी जा सकती है । जो साधन पदार्थों की सीमांतिक उपयोगिता को मापता है, वही मुद्रा है। माँग के अनुसार पदार्थों में उपयोगिता है। दुर्लभता के साथ उसको जोड़ते ही उसमें सीमांतिक उपयोगिता का प्रश्न उठ खड़ा होता है जो मुद्रा के द्वारा मापा जा सकता है। जिस प्रकार गज से कपड़े की लंबाई मापी जा सकती है, उसी प्रकार मुद्रा के द्वारा पदार्थों की सीमांतिक उपयोगिता भी मापी जाती है। मुद्रा कीमतों के द्वारा ही पदार्थों के मूल्य को प्रकाशित करती है। पदार्थ की मौद्रिक दर का नाम ही कीमत है।

धातविक मुद्रा के सदृश ही कागजी मुद्रा भी मुद्रा है। दोनों में भेद केवल यही है कि एक स्वतः मूल्यवाली है और दूसरी परतः मूल्यवाली है। प्रायः दोनों का कार्य्य एक सदृश ही होता है; दोनों ही एक सदृश विनिमय की माध्यम तथा मूल्यों की मापक होती हैं।

(२) गौण कार्य्यः—(क) प्रलंबकालीन लेन-देन का साधक। लेन-देन के साधक वे पदार्थ भी हो सकते हैं जो विनिमय के माध्यम न हों। साख पर आश्रित समाज में ऋण का संशोधन चिरकाल के बाद होता है। भिन्न भिन्न व्यापारियों की वहियों में एक दूसरे के नाम हिसाब चढ़ता रहता है। वहुत समय गुजरने के बाद पारस्परिक लेन-देन का संशोधन होता है। बहुधा यह देखने में आया है कि मौद्रिक धातु के मूल्य में भयंकर परिवर्तन आ जाने पर वहियों का हिसाब-किताव लेन-

देन के पदार्थ में ही चुकता कर दिया जाता है। इसी लिये उत्तम मुद्रा के लिये यह आवश्यक है कि वह प्रलंबकालीन लेन-देन की साधक हो।

(ख) मूल्य-परिवर्तक। एक स्थान से दूसरे स्थान का व्यापार न हो, यदि मुद्रा मूल्य-परिवर्तक न हो। अंतर्जातीय व्यापार में मूल्यों का परिवर्त्तन तथा जातीय लेन-देन का संशोधन मुद्रा के आधार पर ही किया जाता है। देखने में मुद्रा एक स्थान से दूसरे स्थान में नहीं जाती, परंतु वस्तुतः मूल्य-परिवर्तन का आधार वही होती है।

(ग) मूल्यधारक। आजकल बहुमूल्य धातुओं की मुद्राएँ ही बनाई जाती हैं। धातुओं का मूल्य सामयिक नहीं होता। वह चिरकाल तक स्थिर रहता है। यही कारण है कि उत्तम मुद्रा मूल्य-धारक होती है और चिरकाल तक मूल्य धारण करने के कारण समाज का अतिशय उपकार करती है।

(३) सामयिक कार्य्यः—(क) समाज की आय का विभाग। समाज के आर्थिक विकास के कारण मुद्रा को जो कई नए काम करने पड़ते हैं, वे सामयिक कार्य्य की कक्षा में रखे जाते हैं। दृष्टांतस्वरूप समाज की आय का विभाग ही लीजिए। आजकल आर्थिक उन्नति तथा श्रमविभाग उस हद तक बढ़ गया है जहाँ बिना मुद्रा के आय तथा भृति का विभाग संभव नहीं है। प्राचीन काल में भी किसी सीमा तक समाज की आय का

विभाग मुद्रा द्वारा ही होता था; परन्तु वर्तमान काल में उसको नहीं के बराबर कहा जा सकता है।

(ख) व्यय संबंधी कार्य्य। प्रत्येक व्यक्ति मासिक व्यय का अनुमान मुद्रा में ही करता है। उपयोगिता के विचार से प्रत्येक व्यक्ति मुद्रा के द्वारा सीमांतिक उपयोगिता के पदार्थ प्राप्त करके उनसे अधिक से अधिक लाभ उठाता है।

(ग) साख संबंधी कार्य्य। अर्वाचीन साख का विशाल भवन मुद्रारूपी आधार पर ही है। मुद्रा की कमी से कागजी सिक्के का दाम किस प्रकार गिर जाता है, इसका वर्णन आगे चलकर किया जायगा। मुद्रा में यह एक विशेषता है कि वह अपने आधार पर अनेक पदार्थों को विनिमय का माध्यम बना देती है और लेनदेन में सुगमता पैदा कर देती है। वह विनिमय बिलों के सदृश है। चेक का विस्तृत प्रयोग इसी का ज्वलंत उदाहरण है।

(घ) पूँजी संबंधी कार्य्य। धातविक मुद्रा ने ही अचल पूँजी को पर लगाकर भ्रमणीय बना दिया है। राष्ट्रों में बहुधा ऐसी बहुत सी पूँजी होती है जो विनियोग के स्थानों को ढूँढ़ती है। ज्यों ही किसी स्थान में नया व्यवसाय खुलता या किसी नई खान का पता चलता है, त्यों ही पूँजी सब ओर से एकत्र होकर वहाँ पहुँच जाती है। पूँजी के पहुँचने का तात्पर्य्य कलयंत्र तथा श्रम के रूप में उसके वहाँ पहुँचने से है। इस प्रकार मुद्रा उत्पत्ति को पूँजी भ्रमण के द्वारा चरम सीमा तक पहुँचाती

है। अर्वाचीन धनाढ्यों का यह मुख्य उद्देश है कि वे पूँजी पर प्रभुत्व प्राप्त करें और उसके द्वारा दूर दूर के देशों में अपना कार्य्य बढ़ावें। मूल्यधारक होने के कारण मुद्रा ने अर्वाचीन समाज में धनाढ्यों के महत्व को अनुचित सीमा तक बढ़ा दिया है। विक्रय या क्रय साध्य पदार्थों पर उसकी शक्ति अपरिमित है। मुद्रा की माँग के संसारव्यापी होने से आर्थिक ध्येय में उसकी शक्ति भी संसारव्यापी हो जाती है।

(४) मुद्रा का लक्षण

मुद्रा के कार्य्य बतलाए जा चुके। अब मुद्रा का लक्षण किस प्रकार किया जाय, यही विचारणीय है। मुद्रा का ऐसा लक्षण करना कुछ कठिन है जो कि न तो अतिव्याप्त हो और न अव्याप्त हो। साधारण व्यवहार में मुद्रा के तीन अर्थ लिए जाते हैं जो कि इस प्रकार हैं:—

(१) प्रथम अर्थ में सोना, चाँदी, कागजी मुद्रा, चेक, बैंक ड्राफ्ट, विनिमय बिल तथा भिन्न भिन्न कंपनियों के हिस्से ग्रहण किए जाते हैं; क्योंकि वे किसी न किसी रूप में विनिमय के माध्यम हैं।

(२) द्वितीय अर्थ में मुद्रा के अंतर्गत उन्हीं पदार्थों को सम्मिलित किया जाता है जो परतः मूल्यवान् होने के बदले स्वतः मूल्यवान् हों। इस अर्थ के पक्षपाती कहते हैं कि अत्यन्त उपयोगी पदार्थ ही मुद्रा हो सकता है। मौद्रिक

उपयोगों के अतिरिक्त अन्य उपयोगों का होना भी मुद्रा के लिये आवश्यक है। यदि यह न हो तो माँग के नष्ट होते ही या अन्य विघ्नों के पड़ते ही मुद्रा का मूल्य कुछ भी न रहे।

(३) तृतीय अर्थ के अनुसार ऋण-संशोधन तथा लेन-देन में राज्य द्वारा प्रमाणित संपूर्ण विनिमय की माध्यम मुद्राएँ हैं।

उल्लिखित तीनों अर्थों पर गंभीर विचार करने पर यह स्पष्ट होता है कि प्रथम अर्थ अतिव्याप्त है; क्योंकि उसके अनुसार ऐसे भी बहुत से पदार्थ मुद्रा के लक्षण में आ जाते हैं जिनको वस्तुतः मुद्रा नहीं माना जा सकता। सब प्रकार की मुद्राओं के लिये यह जरूरी है कि वे विनिमय का माध्यम हों। परंतु इसका यह मतलब नहीं है कि संपूर्ण विनिमय के माध्यम मुद्रा हैं। प्रथम अर्थ का सबसे बड़ा दोष यह है कि उसके अनुसार जनता में प्रयुक्त सैकड़ों पदार्थ मुद्रा बन जाते हैं। यदि गाँव-वाले अनाज के द्वारा तेल, घी, लकड़ी, तरकारी आदि खरीदते हों तो इस अर्थ के अनुसार प्रत्येक प्रकार का अन्न मुद्रा है। विचित्रता तो यह है कि पहलू बदलते ही अन्न के बदले आने-वाले भिन्न भिन्न पदार्थ भी मुद्रा बन जाते हैं।

दूसरा अर्थ भी संतोषजनक नहीं कहा जा सकता; क्योंकि उपयोगी होने से ही कोई पदार्थ मुद्रा नहीं बन जाता; और परतः मूल्यवान् होते हुए भी बहुत से पदार्थ मुद्रा कहे जा सकते हैं। यदि दूसरे अर्थ को सत्य मान लिया जाय तो यह कहना पड़ता

है कि १८६२ से १८७९ तक अमेरिका में कोई मुद्रा ही नहीं थी; क्योंकि अपरिवर्तनशील पत्रमुद्रा के आधिक्य से धातवीय मुद्रा व्यवहार से पृथक् हो गई थी। यही दशा आजकल जर्मनी की है। हरजाने की भारी रकम के सिर पर आ जाने से उसको सोना विदेश भेज देना पड़ा और देश का कारोबार कागजी सिक्कों में चलाना पड़ा है। इस समय जर्मनी में धातवीय मुद्राओं का सर्वथा अभाव है। परंतु इसका यह अर्थ नहीं है कि वहाँ कोई मुद्रा ही नहीं है। इसी से स्पष्ट है कि मुद्रा का द्वितीय अर्थ अत्यंत संकुचित होने से हेय है।

तीसरा अर्थ ही एक ऐसा अर्थ है जिसको स्वीकृत किया जा सकता है; क्योंकि अपरिवर्तनशील पत्रमुद्रा भी लेन-देन तथा ऋण-संशोधन का काम करती हुई कोशप्रवेश्य हो सकती है। मूल्यों का मापन भी इसके द्वारा होता है; क्योंकि धातवीय-मुद्रा के सदृश ही जनता में इसकी माँग है। प्रतिनिधि मुद्रा तथा सरकारी नोटों में सबसे बड़ा दोष यह है कि उनका संचलन किसी हद तक मर्य्यादित है। यदि कोई व्यक्ति उनको न ले और धातवीय मुद्रा के लिये ही उत्सुकता प्रकट करे, तो उस पर अभियोग चलाया जा सकता है और उसको राज्य दंड दे सकता है।

तीसरे अर्थ के अनुसार धातवीय मुद्रा के सदृश ही अपरिवर्तनशील पत्रमुद्रा भी मुद्रा है। परंतु इसमें संदेह नहीं है कि उत्तम मुद्रा धातवीय मुद्रा ही है; क्योंकि अपरिवर्तनशील

मुद्रा का मूल्य अस्थिर तथा चंचल होता है । सोने चाँदी की मुद्राओं में यह बात नहीं है । स्वतः मूल्यवान् होने से उनका मूल्य चिरकाल तक बना रहता है। यदि मुद्रा में उनका प्रयोग न भी हो, तो भी आभूषण तथा ललित कला में उनका प्रयोग बना ही रहता है और उनके मूल्य में विशेष भेद नहीं आता। इसके विपरीत अपरिवर्तनशील पत्रमुद्रा का क्षेत्र परिमित तथा विशेष परिस्थिति पर निर्भर है । एक देश विशेष में ही इसका प्रचार होता है । सोने चाँदी की माँग तथा प्रयोग सार्वभौम है। पृथ्वी पर एक भी ऐसा सभ्य राष्ट्र नहीं है जिसमें उनकी माँग न हो। यही कारण है कि सोने चाँदी की मुद्राएँ अपरिवर्तनशील पत्रमुद्राओं से उत्तम हैं।

५—उत्तम मुद्रा के गुण

अनेकों पदार्थ मुद्रा के तौर पर सभी समाजों में प्रचलित हैं। इतना होते हुए भी मौद्रिक दृष्टि से उनमें तारतम्य है। उनमें से कुछ उत्तम और कुछ निकृष्ट समझे जाते हैं। संपत्तिशास्त्रज्ञों के मत से उत्तम मुद्रा के निम्नलिखित गुण हैं—

(१) पूर्ण विभागत्व। उत्तम मुद्रा में पूर्ण-विभागत्व रूपी गुण का होना नितांत आवश्यक है। पूर्ण विभागत्व से तात्पर्य्य विभाग किए जाने पर मौद्रिक धातु की मूल्य का नष्ट न होना है। सोने के कितने ही टुकड़े किए जायँ, उसके मूल्य में भेद नहीं आता। सोने का मूल्य भार से है न कि आकार से। हीरे में यह बात

नहीं है। हीरे का मूल्य आकार से होता है। हीरा जितना बड़ा होता है, उसका उतना ही अधिक मूल्य होता है। छोटे छोटे टुकड़े करने पर हीरे का मूल्य नष्ट हो जाता है। इसी दोष के कारण हीरे का मौद्रिक मूल्य बहुत अधिक नहीं है।

(२) बहुमूल्यत्व। मौद्रिक धातु के लिये आवश्यक है कि छोटे से टुकड़े में ही अधिक मूल्य हो। गेहूँ उत्तम मुद्रा नहीं है; क्योंकि एक मनुष्य बीस रुपए का गेहूँ सुगमता से एक स्थान से दूसरे स्थान पर नहीं ले जा सकता। परंतु सोने में यह दोष नहीं है। हजारों रुपए का सोना सुगमता से एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाया जा सकता है।

व्यापार व्यवसाय की वृद्धि का विनिमय के माध्यम के साथ घनिष्ठ संबंध है। यदि विनिमय के माध्यम का पदार्थ बहुत ही अधिक भारी हो और उसके एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाने में बहुत ही अधिक असुविधाएँ हों, तो ऐसी हालत में व्यापार-व्यवसाय की वृद्धि का एक दम रुक जाना स्वाभाविक हीं है। इस समय संसार के सभ्य राष्ट्रों का इसी ओर झुकाव है कि लाखों रुपए सुगमता से एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजे जा सकें। यही कारण है कि उत्तम मुद्रा का यह आवश्यक गुण समझा जाता है कि उसके छोटे से टुकड़े में अधिक से अधिक मूल्य हो और टुकड़े टुकड़े करने पर भी उसका मूल्य हीरे की तरह नष्ट न हो।

(३) स्थिरमूल्यत्व। उत्तम मुद्रा के लिये चुने गए पदार्थ

का मूल्य स्थिर होना आवश्यक है । भिन्न भिन्न स्थानों तथा समयों में उसकी क्रय-शक्ति का एक सदृश बना रहना बहुत ही जरूरी है । प्रलंबकालीन लेनदेन में भी वह तभी काम आ सकता है जब कि उसका मूल्य स्थिर हो । दुःख की बात है कि अभी तक ऐसा एक भी पदार्थ नहीं मिला जो पूर्ण रूप से इस शर्त को पूरा करता हो । कपड़े या खिलौने की अपेक्षा स्वर्ण का मूल्य ज्यादा स्थिर है, परंतु वह भी हर समय बदलता रहता है । गज तथा सेर के बार बार बदलने से जो कठिनाई पैदा हो सकती है, वही कठिनाई सोने के मूल्य के बदलने के कारण भी पैदा होती है । श्रमियों तथा पूँजीपतियों के झगड़े में एक कारण यह मूल्य भी है । देखने में तो मौद्रिक भृति पूर्ववत् बनी रहती है, परंतु पदार्थों के मँहगे होने के साथ ही उसकी क्रय-शक्ति बहुत ही घट जाती है और श्रमियों के लिये घर के खर्चों को सँभालना असंभव हो जाता है । इससे मौद्रिक भृति बढ़ाने के लिये श्रमियों को झगड़ना पड़ता है । यदि मौद्रिक धातु का मूल्य स्थिर हो, तो गृह्य कलह तथा वर्ग-युद्ध बहुत कुछ रुक जाय ।

(४) चिरस्थायित्व । उत्तम मुद्रा के लिये यह आवश्यक है कि वह चिरस्थायी हो और समय, स्थान तथा ऋतु का उस पर कुछ भी प्रभाव न पड़े । तरकारी की तरह जल्दी सड़ने गलनेवाली वस्तु की मुद्रा उत्तम मुद्रा नहीं कही जा सकती । सोने चाँदी की धातु कोमल होती है; अतः उसको चिरस्थायी बनाने के लिये

उसमें ताँबा मिला दिया जाता है। धातु के सिक्कों का क्यों आदर है, इसका रहस्य भी उनके इसी गुण में छिपा है । धातुओं के चिरस्थायी होने से ही हजारों साल पुरानी ताम्र तथा स्वर्ण की मुद्राएँ जमीन खोदने पर मिलती हैं । यदि गंभीरता से विचार किया जाय तो धातुओं के चिरस्थायित्व गुण के सिवा कुछ दोष भी प्रत्यक्ष हो जायँ । गेहूँ आदि पदार्थ खाए जाते हैं, अतः उनकी उपलब्धि अपरिमित सीमा तक नहीं बढ़ती । धातुओं का भोजन की तरह व्यवहार असंभव है । इससे प्रति वर्ष जितनी धातु खानों में से निकलती, है उतनी ही उसकी उपलब्धि संसार में बढ़ जाती है । उपलब्धि के बढ़ने के कारण ही धातुओं की कीमतें दिन पर दिन बदलती रहती हैं। प्राचीन काल में एक पैसे का तीन सेर घी और १६ सेर चावल था; परंतु अब यह बात नहीं है । भारत में वैदिक काल में लकड़ी की बनी एक झोंपड़ी या मकान का दाम आठ पैसा था; परंतु आजकल आठ पैसे में लकड़ी का एक तख्ता भी नहीं मिल सकता । धातु की वृद्धि का ही यह परिणाम है। मँहगी धातु-वृद्धि का ही रूपांतर है।

(५) मुद्रा-साध्यत्व । बहुमूल्य धातुएँ बहुत सी हैं, परंतु उनमें से कुछ ही मुद्रा-साध्य हैं । प्लाटिनम उपयोगी और बहुमूल्य है; परंतु वह मुद्रा-साध्य नहीं है, क्योंकि बड़ी कठिनाई से गलता है । साथ ही धातु को इतना कोमल भी न होना चाहिए कि कुछ ही समय के प्रयोग के उसका आकार भ्रष्ट या नष्ट हो जाय ।

(६) कूट मुद्रा के अयोग्य । मुद्रा ऐसी धातु की बनानी चाहिए जिसमें जालसाजी का भय न रहे। सोना या चाँदी अपने रंग तथा तौल से शीघ्र ही पहचानी जा सकती है। उनकी ठंकार भी उनके खरेपन को प्रगट कर देती है। धातुओं के अतिरिक्त और कोई ऐसा पदार्थ नहीं है जिसमें ये गुण मौजूद हों।

(७) गुण-सामान्य। उत्तम मुद्रा के लिये वही पदार्थ उपयुक्त है जिसके गुण बदलते न रहें। गेहूँ की सैंकड़ों किस्में होती हैं। एक स्थान का गेहूँ दूसरे स्थान के गेहूँ से नहीं मिलता। सोने वा चाँदी में यही विशेषता है कि वह चाहे कहीं की क्यों न हो, उसके रूप तथा आकृति में भेद नहीं होता।

संसार में एक भी ऐसा पदार्थ नहीं है जिसमें ये सातों गुण एक साथ पूर्णरूपेण विद्यमान हों। राष्ट्र अपनी आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिये ही मुद्रा का प्रयोग करते हैं। जैसी उनकी आवश्यकता होती है, वैसी ही उनमें मुद्रा होती है। चाँदी शीघ्र विकृत हो जाती है; परंतु सोने में यह बात नहीं है। सोने के गुणों को जानते हुए भी बहुत से राष्ट्र सोने की मुद्राओं को प्रयुक्त करने में अपनी आर्थिक दशा के कारण असमर्थ हैं। इतना होते हुए भी इसमें संदेह नहीं है कि बहुमूल्य धातुओं में ये सब गुण सब धातुओं की अपेक्षा अधिक हैं। सोने या चाँदी में चिरस्थायित्व, मुद्रा-साध्यत्व, पूर्ण-विभागत्व तथा गुण-समानत्व विशेष तौर पर है। प्रोफेसर जेवंज़ ने ठीक लिखा है कि "मौद्रिक प्रचार के लिये धातुएँ

सब पदार्थों से उत्कृष्ट हैं।" धातुओं में भी तारतम्य है। कुछ धातुएँ मौद्रिक दृष्टि से शेष धातुओं से उत्तम हैं। राज-नियम तथा देश-प्रथा के साथ सोने-चाँदी की उत्तमता का कुछ भी संबंध नहीं है। स्वभाव से ही उनकी मुद्राएँ सर्वप्रिय होती हैं।

यह पहले ही लिखा जा चुका है कि स्थिर-मूल्यत्व एक ऐसा गुण है जो सोने-चाँदी तक में मौजूद नहीं है। इस दशा में यह प्रश्न स्वभावतः उठता है कि क्या गज आदि के सदृश कोई कल्पित मापक नहीं नियत किया जा सकता? पर अभी तक तो इस मामले में पूर्ण सफलता नहीं हुई है।

६—धातवीय मुद्रा का प्रचार

सोने-चाँदी जैसी बहुमूल्य धातुओं की उचित राशि किस प्रकार प्राप्त की जाय, इस पर चिरकाल तक राजनीतिज्ञों का ध्यान था। युरोपीय राष्ट्रों ने तो सोने के लोभ में बहुत से ऐसे कानून बनाए जो राष्ट्र के बाहर सोना भेजने को रोकते थे और राष्ट्र में उसके आने को उत्तेजित करते थे। उनका खयाल था कि जिस राष्ट्र में जितना अधिक सोना हो, वह उतना ही अधिक समृद्ध होता है। सोना ही, उनके विचार में, समृद्धि का मुख्य चिह्न था।

परंतु यह विचार कितना दोषपूर्ण है, यह किसी से छिपा नहीं है। इतना होते हुए भी अर्वाचीन युरोपीय राष्ट्रों के

क़ानूनों में पुराने अंध विश्वासों की छाप ज्यों की त्यों बनी है। उचित तो यह है कि बहुमूल्य धातु जरूरत के अनुसार ही प्राप्त की जायँ; क्योंकि उनका आधिक्य प्रायः राष्ट्र को भयंकर नुकसान पहुँचाता है।

बहुमूल्य धातुओं का राष्ट्रीय विभाग उनकी राष्ट्रीय माँग पर निर्भर है। अन्य पदार्थों के विभाग के सदृश ही उनका भी विभाग है। जहाँ मँहगी है, वहीं वे जाती हैं। सस्ती से मँहगी की ओर प्रवाह सभी पदार्थों का मुख्य आर्थिक गुण है। मुद्रा तथा बहुमूल्य धातुएँ भी इस आर्थिक गुण से वंचित नहीं हैं।

यदि सोना तथा चाँदी ही व्यवहार के एकमात्र साधन होते तो व्यापार व्यवसाय की वृद्धि, समृद्धि की मात्रा, लेनदेन के सातत्व (Frequency) तथा साधारण व्यवहार के विस्तार के अनुसार राष्ट्रों में उनका विभाग हो जाता। राष्ट्रीय माँग के अनुसार ही राष्ट्रों में सोने की राशि पहुँच जाती। सोने की उपलब्धि तथा माँग का जिस विंदु पर संतुलन होता, उसी के अनुसार उसकी कीमत होती। पर इतना होते हुए भी सोने की उपलब्धि का उसके विभाग से कोई विशेष घनिष्ट संबंध नहीं है। आवश्यकता से अधिक सोना देर तक किसी राष्ट्र के लिए रखना सुगम काम नहीं है। सोने की खानों से परिपूर्ण राष्ट्र तक तो ऐसा कर ही नहीं सकते; दूसरे राष्ट्रों की बात तो दूर है।

प्राचीन लेखकों का खयाल था कि सोने-चाँदी का सब

स्थानों में समान मूल्य होता है। समान मूल्य से उनका क्या तात्पर्य्य था, यह स्पष्ट नहीं है। मौद्रिक व्यवहार को सामने रखते हुए यही कहा जा सकता है कि सोने चाँदी का मूल्य पदार्थों में और पदार्थों का मूल्य सोने चाँदी में होता है। संसार के भिन्न भिन्न राष्ट्रों में सोने चाँदी की क्रय-शक्ति समान नहीं है। यह कौन कह सकता है कि चीन, भारत, अमेरिका तथा जर्मनी में सोना और चाँदी दोनों एक सदृश मात्रा में ही गेहूँ खरीदेंगे। जिस राष्ट्र में गेहूँ पैदा होता है, वहाँ उसका जो मूल्य होगा, उसका वही मूल्य इंग्लैंड के सदृश व्यावसायिक राष्ट्र में नहीं हो सकता। उत्पादक राष्ट्र में गेहूँ सस्ता होगा और इंग्लैंड में वह मँहगा होगा। कीमतों का भेद मार्ग-व्यय, बीमे तथा सामुद्रिक चुंगी की दर के अनुसार होगा।

दो प्रकार के पदार्थ होते हैं। एक तो जातीय और दूसरे अंतर्जातीय। जातीय पदार्थों की कीमतें अंतर्जातीय पदार्थों की कीमतों से भिन्न होती हैं। जातीय पदार्थों को माध्यम की जिस मात्रा तक आवश्यकता होती है, उसी मात्रा तक बहुमूल्य धातुओं की जातीय कीमतें होती हैं। बहुमूल्य धातुओं की जातीय कीमतों से ही उनकी अंतर्जातीय कीमतें प्रकट होती हैं और यही अंत में उनका जातीय विभाग करती हैं। यदि एक जाति में व्यापार-व्यवसाय संबंधी परिवर्तन हों, तो उनका प्रभाव बहुमूल्य धातुओं की कीमतों पर पड़ता है; और अंत में यह प्रभाव उनकी अंतर्जातीय कीमतों को परिवर्तित करता है।

आज से बहुत पहले रिकार्डो ने यह प्रकट किया था कि कीमतों के परिवर्तन से ही किसी राष्ट्र में बहुमूल्य धातुएँ आती या जाती हैं। यदि किसी विशेष समय में किसी एक राष्ट्र का आयात तथा निर्यात समान हो और साथ ही उसको ऋण में किसी दूसरे राष्ट्र को कुछ धन देना हो, तो स्वाभाविक ही है कि बहुमूल्य धातुएँ उस देश से बाहर चली जायँगी। परंतु यदि दूसरे राष्ट्र की माँग बहुत ही अधिक हो और इस कारण उसके निर्यात से आयात अधिक हो जायँ तो ऋण में उनको बहुमूल्य धातुएँ न मिलकर पदार्थ ही मिलेंगे। बहुत से विचारकों का विचार है कि बहुमूल्य धातुओं का विभाग नई नई खानों के खुदने के साथ संबद्ध है। यह सिद्धांत उसी हद तक सत्य है जिस हद तक कि खान खोदनेवाले राष्ट्र में सोने की बहुतायत से कीमतें चढ़ जायँ और अन्य राष्ट्र अपने सस्ते पदार्थ उसमें भेजकर वहाँ से सोना प्राप्त कर सकें। यह भी देखने में आया है कि खानों के मालिक खानों से सोना निकालकर बड़े बड़े बैंकों में जमा कर देते हैं। बैंक राष्ट्रों की जरूरतों के अनुसार उसका विभाग कर देते हैं। बहुधा आयात-निर्यात के संतुलन के भंग होने पर कई राष्ट्र उसका संशोधन अपने स्वर्ण के द्वारा कर देते हैं। परंतु प्रायः स्वर्ण के गमनागमन को रोकने के लिये ही यत्न किया जाता है और व्यापारीय संतुलन के विक्षोभ को कई अन्य उपायों से दूर कर दिया जाता है।

विषय को समझने के लिये कल्पना कीजिए कि अ तथा ब दो राष्ट्र हैं। इनका संसार के अन्य किसी राष्ट्र से कुछ भी संबंध नहीं है। दोनों राष्ट्रों में साख का प्रयोग नहीं है और लेन देन का संशोधन मुद्रा के द्वारा ही किया जाता है। साथ ही कल्पना कीजिए कि उत्पत्ति-व्यय के कम होने से अ में पदार्थ सस्ते हैं। इसका परिणाम यह है कि अ ने अपने पदार्थों को ब में भेज दिया और ब से उनके बदले बहुत से पदार्थ खरीद लिए। स्वाभाविक ही है कि लेनदेन का संशोधन पदार्थों के द्वारा हो जाय और ब को बहुमूल्य धातुओं के भेजने की कुछ भी जरूरत न रहे। परंतु इसके विपरीत यदि अ अपने पदार्थों को ब में भेज दे और ब से कुछ भी पदार्थ न खरीदे, तो उस दशा में ब को यदि लेनदेन का संशोधन स्वर्ण की राशि भेजकर करना पड़े तो इस पर आश्चर्य करना वृथा है। आम तौर पर पदार्थों के आयात-निर्यात का पदार्थों की भिन्न भिन्न राशियों से ही संतुलन हो जाता है। मौद्रिक धातु के गमनागमन की कुछ भी जरूरत नहीं पड़ती। स्वर्ण का गमनागमन आजकल स्वर्ण की माँग के अनुसार हो होता है। भारत में यदि स्वर्ण का विक्रय लाभ का काम हो, तो भिन्न भिन्न कंपनियाँ भिन्न भिन्न राष्ट्रों से स्वर्ण खरीदकर भारत में बेचेंगी और उसके बदले पदार्थों को प्राप्त करके उनका विक्रय उन राष्ट्रों में करेंगी जहाँ कि लाभ की आशा हो। सोने की खानोंवाले राष्ट्रों में प्रायः यह देखा गया है कि जरूरत की चीजें सोने के

बदले मँगाई जाती हैं और माँग के अनुसार सोना बाहर भेज दिया जाता है। यदि कोई राष्ट्र सर्वथा नवीन पदार्थ भी बनावे और जरूरत के अनुसार उसको भिन्न भिन्न राष्ट्रों में भेज दे तो इसका यह मतलब नहीं है कि उसमें दूसरे राष्ट्रों से सोना आ जायगा। आम तौर पर सोने के बदले व्यावसायिक या कृषि-जन्य पदार्थ बहुमात्रा में भेज दिए जाते हैं। सारांश यह है कि व्यापारीय संतुलन का काम सोने के विभाग के बिना भी हो जाता है। आवश्यकता ही एक ऐसा मुख्य तत्व है जिसके अनुसार भिन्न भिन्न राष्ट्र सोने को पदार्थों के बदले मँगाते हैं। सोना पदार्थ के रूप में ही प्रायः भिन्न भिन्न राष्ट्रों में विभक्त होता है, न कि मुद्रा या विनिमय के माध्यम के रूप में।

बहुमूल्य धातुओं का विभाग किन किन तत्वों पर निर्भर है, इसको जानने के लिये निम्नलिखित बातों की कल्पना आवश्यक है।

(क) कल्पना कीजिए कि स्वर्ण के गमनागमन तथा कीमतों के परिस्थिति के अनुकूल हो जाने में कुछ भी समय नहीं लगता।

(ख) कल्पना कीजिए कि नई नई खानों से लगातार सोना निकलता जाता है और संसार की स्वर्णराशि को दिन पर दिन बढ़ा रहा है। इसका कुछ भाग आभूषणों तथा ललित कलाओं में खर्च होता है और शेष भाग मुद्राओं के बनाने में काम आता है।

यदि उल्लिखित कल्पनाएँ सत्य हों तो मुद्रा में प्रयुक्त

स्वर्ण संसार के भिन्न भिन्न राष्ट्रों के पास पहुँचने के लिये कुछ न कुछ समय लेगा। इस अंतर्वर्ती काल में सोने की स्थानीय तथा अंतर्जातीय कीमतों में भेद आ जायगा। कार्नूज ने ठीक लिखा है कि "सोना-चाँदी अन्य पदार्थों के सदृश ही स्थानीय पदार्थ हैं और यही कारण है कि उनका भी स्थानीय मूल्य होता है।"* स्थानीय मूल्य तथा अंतर्जातीय मूल्य में भेद के कुछ और कारण हैं जो ध्यान देने के योग्य हैं।

(क) स्थान का तत्व। बहुधा सोने की खानें ऐसे राष्ट्रों में होती हैं जो जांगलिक और अव्यावसायिक हैं। उनमें बैंकों की सुविधा का सर्वथा अभाव होता है। इसका परिणाम यह होता है कि सोना निकलने के बाद शीघ्र ही अंतर्जातीय बाजार में नहीं पहुँचता। पुराने जमाने में सोने की कीमतें प्रायः स्थानीय होती थीं; क्योंकि उन दिनों सोने को खानों से निकालकर भिन्न भिन्न राष्ट्रों तक पहुँचाना सुगम काम नहीं था। आजकल इस मामले में बहुत भेद आ गया है और सोने के इधर-उधर पहुँचने में बहुत सुविधाएँ हो गई हैं। इस पर भी यह तत्व अभी पूर्ण रूप से लुप्त नहीं हुआ है। यही कारण है कि आजकल भी सोने की स्थानीय कीमतें अंतर्जातीय कीमतों से प्रायः भिन्न होती हैं।

(ख) सामाजिक आचार-व्यवहार। सोने के गमनागमन में सामाजिक आचार-व्यवहार का भी विशेष भाग है। पोटोसी

---

* Cairness "Political Economy". pp. 409-410.

(बोलीविया) की खानों की चाँदी स्पेन के खजाने में जमा की गई, परंतु बाजार में न लाई गई। इसी प्रकार जिन राष्ट्रों में सोना धार्मिक कृत्य का अंग है, वे राष्ट्र भी सोने को जल्दी दूसरे राष्ट्रों में नहीं भेजते। अति प्राचीन काल में भारत में यज्ञकृत्य तथा दक्षिणा में सोना विशेष रूप से दिया जाता था।

(ग) आर्थिक दशा। सोने की राशि के बढ़ने के साथ भृति, लाभ अथवा व्याज की मात्रा में भेद नहीं आता। धातविक मुद्रा की क्रयशक्ति तो सोने के बढ़ने के कुछ ही दिनों के बाद बदल जाती है, परंतु भृति आदि में उसके अनुपात से परिवर्तन होने के लिये बहुत समय लगता है।

(घ) साख। सोने-चाँदी के राष्ट्रीय विभाग में साख का विशेष रूप से भाग है। व्यापार-व्यवसाय तथा समृद्धि के बढ़ने के साथ साथ मुद्रा की आवश्यकता बढ़ती है। यदि राष्ट्रों में साख का प्रयोग न होता, तो समृद्धि तथा आर्थिक कर्मण्यता के अनुसार सोने-चाँदी का विभाग हो जाता। परंतु यह बात नहीं है। अर्वाचीन सभ्य तथा समृद्ध राष्ट्रों की आर्थिक कर्मण्यता साख पर आश्रित है। साख की सत्ता तथा प्रभाव का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि प्रायः अधिक से अधिक समृद्ध राष्ट्रों में दरिद्र राष्ट्रों की अपेक्षा भी सोना कम है। दरिद्र तथा असभ्य राष्ट्रों में आर्थिक व्यवहार प्रायः मुद्रा के द्वारा ही होता है और यही कारण है कि उनमें सोने-चाँदी की मात्रा अधिक होती है।

(ङ) विनिमय बिल। विनिमय बिल के आविष्कार से राष्ट्रों के लिये सोने-चाँदी की मात्रा का अधिक रखना आवश्यक नहीं रहा। साख के सदृश ही विनिमय-बिल का प्रभाव है। व्यापारीय संतुलन के भंग होने पर भी संशोधक गृहों के द्वारा भिन्न भिन्न राष्ट्रों के लेनदेन का संशोधन हो जाता है। लगातार सोना-चाँदी जहाजों पर लादकर भेजने की जरूरत नहीं रहती। विनिमय बिल का कार्य्य समझने के लिये कल्पना कीजिए कि इंग्लैंड के कुछ व्यापारी फ्रांसीसी व्यापारियों के ऋणी हैं; और इसके विपरीत कुछ फ्रांसीसी व्यापारी अँगरेज व्यापारियों के देनदार हैं। यदि ऋण का धन इंग्लैंड की ओर १०००००० रुपया और फ्रांस की ओर ८००००० रुपया हो तो दोनों ही राष्ट्र अपने ऋण की राशि एक दूसरे राष्ट्र में न भेजकर केवल (१०००००० — ८००००० = २०००००) दो लाख रुपया ही भेजेंगे। आठ लाख रुपए का पारस्परिक लेनदेन वे विनिमय बिलों के द्वारा कर लेंगे जिनका संशोधन संशोधक गृहों या बैंकों के द्वारा हो जायगा। परंतु यदि जर्मनी के प्रति फ्रांस दो लाख रुपयों का देनदार हो और इंग्लैंड लेनदार हो, तो दोनों ही राष्ट्र अपने दो लाख रुपयों का हिसाब किताब जर्मनी के हिसाब से साफ कर लेंगे और किसी राष्ट्र को एक पाई भी न भेजेंगे। यदि विनिमय बिलों का प्रयोग न होता तो धातविक मुद्राएँ अनंत राशि में एक राष्ट्र से दूसरे राष्ट्र में जातीं और कुछ ही समय के बाद

पुनः लौट आतीं। निस्संदेह धातवीय मुद्रा की आवश्यकता अपरिमित सीमा तक बढ़ जाती और इसके साथ ही साथ राष्ट्रों की कठिनाइयाँ भी बहुत ही उग्र रूप धारण करतीं। विनिमय बिलों के द्वारा धातु की जरूरत बहुत ही अधिक घट गई और धातु के भेजने तथा मँगाने की कठिनाई भी पूर्ववत् नहीं रही।

(च) अन्य साधन। व्यापारीय संतुलन के अति सीमा तक भंग हो जाने पर प्रायः विनिमय बिलों के द्वारा लेनदेन का भुगतान नहीं होता। ऐसी हालत में भिन्न भिन्न राष्ट्र बहुमूल्य धातुओं के बाहर भेजने को बाध्य हो जाते हैं। परंतु जहाँ तक होता है, सभी राष्ट्र धातुओं के भेजने से अपने आपको बचाते हैं। आजकल बैंकों का प्रचार विशेष तौर पर है। बड़े बड़े बैंकों की भिन्न भिन्न राष्ट्रों में शाखाएँ हैं और सभी शाखाओं की धरोहर में बहुत बड़ी मात्रा में सोना जमा रहता है। ऋणी राष्ट्र के व्यापारी विनिमय बिलों के द्वारा ऋण चुकता करने में असमर्थ होकर प्रायः सोना न भेजकर बैंकों के ड्राफ्ट खरीद लेते हैं और वही ड्राफ्ट उत्तमर्ण राष्ट्र में भेजकर सोना भेजने की झंझट से बच जाते हैं। यदि ड्राफ्ट से भी यथेष्ट काम न निकला तो भिन्न कंपनियों के हिस्से, पूँजीपत्र तथा सरकारी ऋण के कागज विदेश में भेजकर ऋण से मुक्त हो जाते हैं। पुराने जमाने में पूँजीपत्रों का बाजार राष्ट्रीय था, परंतु आजकल इनका बाजार भी अंतर्जातीय हो गया है। यही कारण है कि पूँजीपत्रों को दूसरे राष्ट्रों में भेज दिया जाता है। यदि

दुर्भाग्य से उल्लिखित संपूर्ण साधनों को काम में लाते हुए भी सोने का बाहर भेजना आवश्यक ही हो, तो भी कोशिश यही होती है कि सोना बाहर न भेजा जाय। प्रायः लेनदेन को अगले साल पर छोड़ दिया जाता है और जातीय ऋण पर ब्याज दे दिया जाता है। भारत तथा इंग्लैंड में से जब कभी भारत उत्तमर्ण होता है, तब भारत का धन इंग्लैंड अपने स्वर्ण-कोष में जमा कर देता है। यह इसी लिये कि जब कभी भारत-वर्ष इंग्लैंड का अधमर्ण हो, तब इंग्लैंड अपना हिसाब स्वर्ण-कोष से सोना लेकर चुकता कर सके। सारांश यह है कि रिकार्डो का उपरिनिर्दिष्ट मत सत्य नहीं है। आजकल कीमतों के भेद से सोना या चाँदी भिन्न भिन्न राष्ट्रों में नहीं जाती। व्यापारीय संतुलन के भंग होने पर भी बहुधा ऐसा नहीं होता। राष्ट्रों के व्यवहार के सदृश ही भिन्न भिन्न नगरों का भी व्यवहार है। नगरों का लेनदेन भी राष्ट्रों के लेनदेन के सदृश ही चुकता किया जाता है। यदि कलकत्ते या बंबई के अन्य भारतीय नगर ऋणी हैं, तो इसका यह अर्थ नहीं है कि वहाँ सारे भारत का सोना-चाँदी जमा होकर चला जायगा। अन्य भारतीय नगर कलकत्ते तथा बंबई में कच्चा माल भेजेंगे और वहाँ से विदेश का बना हुआ माल मंगावेंगे। जहाँ तक संभव होगा लेनदेन पदार्थों में ही भुगता दिया जायगा। बैंकों के द्वारा भी इस मामले में विशेष सहायता मिलती है। बैंक अपने ड्राफ्टों का विक्रय करते हैं और इस प्रकार धातु के गमनागमन को रोकते हैं।

सोने-चाँदी का गमनागमन प्रायः मौद्रिक दृष्टि से ही होता है। आभूषण संबंधी जरूरत भी प्रायः गमनागमन को उत्तेजित करती है। यदि एक देश में सोने का सिक्का हो और दूसरे में चाँदी का सिक्का हो, तो विनिमय की दर के बदलने पर आयात निर्यात की गति बदल जाती है और व्यापारीय संतुलन भंग हो जाता है। ऐसे कठिन समय में प्रायः सोने-चाँदी के गमनागमन से ही आर्थिक चक्र सुधारा जाता है। दृष्टांत स्वरूप भारत को लीजिए। भारत लड़ाई के दिनों में लगातार उत्तमर्ण था। इंग्लैंड लड़ाई की चिंता में पड़कर लगातार भारत से सामान खरीदता रहा और व्यापारीय संतुलन भी लगातार भारत के ही पक्ष में होता रहा। आर्थिक बाधाओं ने प्रबल रूप धारण किया और विनिमय की दर २ शि० ८ पेंस तक जा पहुँची। उधर भारत सरकार ने रिवर्स काउंसिल्स बिल बेचकर इस दर को २ शि० ११ पेंस तक पहुँचा दिया। इस दर पर इंग्लैंड से मँगाने में माल सस्ता पड़ता था। इंग्लैंड से करोड़ों रुपयों का माल मँगाया गया जिससे भारत का सपक्षीय व्यापारीय संतुलन विपक्षीय व्यापारीय संतुलन में पलट गया। शुरू शुरू में भारत ने २ शि० ११ पेंस की दर से इंग्लैंड से सोना खरीदा और पीछे से विपरीत दर पर उसको सोना लौटाना पड़ा। हरजाने की भयंकर राशि भी सोने में ही ली जा रही है। जर्मनी से सोना इंग्लैंड तथा फ्रांस में भेजा रहा है। बहुधा बैंक अपनी जरूरतों के अनुसार सोना

खरीदते हैं और आर्थिक दुर्घटनाओं से बचने के लिये उसको धरोहर में रखते हैं। यदि सोने के गमनागमन के उल्लिखित तत्वों पर गंभीर विचार किया जाय तो ज्ञात हो सकता है कि सोने के गमनागमन का मुख्य कारण उसका प्रयोग है। प्रयोग के अनुसार ही उसको भिन्न भिन्न राष्ट्र मँगाते हैं। भारत में गहने आदि के काम में सोना विशेष रूप से आता है। यही कारण है कि भारत पर-राष्ट्रों से प्रति वर्ष सोना मँगाता है। युरोपीय राष्ट्रों के व्यापारी भी भारत में सोना भेजकर पर्य्याप्त लाभ प्राप्त करते हैं और इसी लिये समय समय पर भारत में सोना भेजते हैं। सारांश यह है कि सोना अन्य पदार्थों के सदृश ही बिकता है। अन्य पदार्थों की कीमतों के जो मुख्य कारण हैं, वही कारण सोने की कीमत के भी हैं।

तीसरा परिच्छेद

मुद्रा का राशि-सिद्धांत

१—मुद्रा के राशि-सिद्धांत का विकास

मौद्रिक युग में सभ्य समाज के प्रविष्ट होने पर मुद्रा का महत्व बहुत ही अधिक बढ़ गया। सारे लेनदेन का माध्यम होने से पदार्थों से उसका संबंध विलक्षण हो गया। विनिमय

में दो पक्ष हो गए और सारा समाज क्रेता तथा विक्रेता की दो श्रेणियों में विभक्त हो गया। पदार्थों के बदले मुद्रा देनेवाले को क्रेता और मुद्रा लेकर पदार्थ देनेवाले को विक्रेता के नाम से पुकारा जाने लगा। क्रेताओं और विक्रेताओं के स्वार्थों ने भी विपरीत रूप धारण किया। क्रेता जिस बात में प्रसन्न है, प्रायः विक्रेता को उसी बात में नुकसान है। क्रेता सस्ती चाहता है और विक्रेता मँहगी। क्रेता पदार्थ के बदले कम मुद्रा देना चाहता है और विक्रेता अधिक लेना चाहता है। मुद्रा की भूख दोनों ही पक्षों में एक सदृश उग्र रहती है।

क्रेता और विक्रेता का विपरीत संबंध मुद्रा तथा पदार्थ के विपरीत संबंध का परिणाम है। मँहगी तथा सस्ती भी इसी का एक नाम-भेद है। दृष्टांत स्वरूप कल्पना कीजिए कि दस व्यापारियों के पास दस पदार्थ हैं और एक व्यापारी के पास १०० मुद्राएँ हैं। व्यापारी अपना पदार्थ देने के लिये अधिक से अधिक मुद्रा चाहता है और मुद्रा रखनेवाला व्यापारी कम से कम मुद्रा देना चाहता है। दोनों ही कुछ समय तक भाव-ताव करेंगे; परंतु अंत में परिणाम यह होगा कि मुद्रावाला व्यापारी एक पदार्थ के बदले दस मुद्रा देकर सारे पदार्थ प्राप्त कर लेगा और इसके विपरीत पदार्थवाले व्यापारी मुद्रा प्राप्त कर लेंगे। इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ का मूल्य दस मुद्रा होगा। परंतु यदि मुद्रावाले व्यापारी के पास १०० के बदले १००० मुद्राएँ होतीं तो स्वाभाविक था कि भाव-ताव के बाद पदार्थ का मूल्य १०० मुद्रा

हो जाता। इसी को इस प्रकार भी लिखा जा सकता है कि मुद्रा की संख्या के बढ़ने से मँहगी और मुद्रा की संख्या के घटने से सस्ती होती है। अनेक ऐतिहासिक घटनाएँ भी इसी बात को पुष्ट करती हैं। दृष्टांत स्वरूप—

(क) फ्रांस ने १७८६ से १८१५ तक के क्रांति-काल में अपरिवर्तनशील कागजी सिक्का चलाकर काम निकाला। इसका परिणाम यह हुआ कि चार साल में ही अपरिवर्त्तनशील कागजी सिक्कों की संख्या बहुत ही अधिक बढ़ गई जो इस प्रकार है:—

कागजी सिक्के के बढ़ने की मात्रा।

१७६४.................७०००००००० का सिक्का निकला
१७६५.................१००००००००० "
१७६५ की जूलाई में...१६००००००००० "
१७६६ की जनवरी में...४५००००००००० "

यदि सिक्के की बढ़ती के साथ ही साथ व्यापार भी बढ़ता और पदार्थों की संख्या भी बढ़ जाती, तो सिक्के के मूल्य में कुछ भी भेद न आता। परंतु ऐसा न हुआ। इसका परिणाम यह हुआ कि ४ पाउंड के कागजी सिक्के की कीमत घटते घटते ३ ही पेंस रह गई।

(ख) फ्रांसीसी क्रांति-काल में इंग्लैंड ने भी कागजी सिक्के का ही सहारा लिया। पुराने चले हुए परिवर्त्तनशील कागजी सिक्के को भी उसने अपरिवर्त्तनशील कागजी सिक्का

वना दिया । स्वदेश में चलते हुए धातविक सिक्के विदेश से पदार्थ खरीदने के लिये रख लिए। इसका परिणाम यह हुआ कि फ्रांस के सदृश ही इंग्लैंड में भी कागजी सिक्के का मूल्य घट गया।

(ग) अमेरिकन राज्यक्रांति में कागजी सिक्के वहुत संख्या में निकाले गए। यही वात गृह्य युद्ध के समय में की गई। यही कारण है कि वहाँ उन दिनों कागजी सिक्के का मूल्य कुछ भी नहीं रहा।

(घ) मध्य युग में भारत में पदार्थों का दाम वहुत ही कम था। यह इसी लिये कि भारत में सिक्का वहुत ही कम था और लोगों की आमदनी भी अर्वाचीन धातु-मुद्रा के विचार से वहुत ही कम थी। कौटिलीय अर्थशास्त्र के देखने से मालूम पड़ता है कि चंद्रगुप्त के समय में एक पैसे का कम से कम १६ सेर चावल और ३ सेर घी आता था। यह भी पता चलता है कि चंद्रगुप्त के समय में राजकीय चपरासियों का मासिक वेतन ५ पैसे था। ईसा से एक दो चार साल पहले भारत में जो कीमतें थीं, वे इस प्रकार हैं:—

लकड़ी के छोटे से मकान का दाम	८ पैसा (८ ताम्र पण)
एक तोले सोने का दाम	१५ पैसा (१५ ताम्र पण)
रथ का दाम	६ पैसा (६ ताम्र पण)
पालकी का दाम	५ पैसा (५ ताम्र पण)
घोड़े का दाम	१५ पैसा (१५ ताम्र पण)

हाथी का दाम	५०० पैसा (५०० ताम्र पण)
दासी का दाम	३५ पैसा (३५ ताम्र पण)
गौ का दाम	८ पैसा (८ ताम्र पण)

इन कीमतों को देखने से ही स्पष्ट है कि उन दिनों में देश में धातु की बहुत ही कमी थी। उस समय भृति पर काम करना शुरू नहीं हुआ था, बार्टर की ही प्रधानता थी। सारांश यह है कि मौद्रिक राशि का कीमतों के साथ घनिष्ट संबंध है। मँहगी तथा सस्ती मौद्रिक राशि के समानुपात में चलती है।

(ङ) युरोप की ऐतिहासिक घटनाएँ भी इसी बात को पुष्ट करती हैं। शुरू शुरू में वहाँ भी सस्ती थी। स्पेन ने जब से पोटोसी की खान खोदी और युरोप में चाँदी की अपरिमित राशि पहुँचा दी, तभी से चीज़ें मँहगी हो गईं। १८५० में कैलिफोर्निया तथा आस्ट्रेलिया ने सोने की राशि बहुत ही अधिक बढ़ा दी। इससे मँहगी ने और भी अधिक उग्र रूप धारण किया।

(च) रोम के प्रांतीय शासक प्रांतों से अपरिमित राशि में धन लूटकर लाए थे। यह सब धन रोम में एकत्र होता था। इससे रोम में विशेष तौर पर मँहगी हो गई।

उल्लिखित ऐतिहासिक घटनाएँ इसी बात को प्रकट करती हैं कि मुद्रा की राशि तथा पदार्थों के मूल्य में घनिष्ट संबंध है। संबंध का घनिष्ट होना आवश्यक भी है, क्योंकि दोनों ही एक दूसरे के साधक हैं। दोनों के एक दूसरे के साथ परि-

उत्तन होने से ही कीमतें पैदा होती हैं। यही कारण है कि सोने-चाँदी की मात्रा के बढ़ने के साथ साथ ज्यों ज्यों युरोप में मँहगी होती गई, त्यों त्यों अनेकों लेखकों का ध्यान इसी ओर गया। सभी ने सोने-चाँदी तथा धातविक मुद्रा की वृद्धि को मँहगी का मुख्य कारण प्रकट किया। दृष्टांत स्वरूपः—

(क) जीन वोदिन (१५६८)। अमेरिका से सोने-चाँदी के युरोप में पहुँचते ही वहाँ मँहगी शुरू हुई। सबसे पहले जीन वोदिन ने ही मँहगी में धातविक मुद्रा को मुख्य कारण बताया है। उसके शब्द हैं—"सोने-चाँदी की धातुओं से ही मुद्राएँ बनती हैं। मुद्राओं से पदार्थ खरीदे जाते हैं। मँहगी इसी लिये है कि मुद्राओं की संख्या तथा सोने-चाँदी की राशि बढ़ गई है।"

(ख) जान लाक (१६६१)। वोदिन के बाद राउस वाघन का ध्यान इस सत्य की ओर गया था। उसके बाद १६६१ में जान लाक ने लिखा कि "चिरस्थायी, परिमित तथा खूबसूरत होने से ही सोने-चाँदी का मूल्य है। लोग उसके बदले पदार्थों को खरीदते हैं। सोने चाँदी की मुद्राएँ बनाकर ही विनिमय का काम किया जाता है। मुद्रा की राशि के साथ पदार्थों का विनिमय होता है। इसलिये मुद्रा की राशि ही सोने चाँदी के मूल्य का मुख्य कारण है।......मुद्रा की राशि जितनी घटा दी जाय, सोने चाँदी की कीमत उतनी ही अधिक हो जाती है।"

(ग) लोन्दला (१७०५) इसने मुद्रा की वृद्धि के परिणामों

को ही मुख्य तौर पर देखा। इसने लिखा है कि "व्यापार तथा समृद्धि मुद्रा की राशि पर निर्भर है।" वस्तुतः मुद्रा की राशि-वृद्धि से उत्पन्न मँहगी का ही यह परिणाम है। इसने जो कुछ भूल की, वह यही है कि इसने व्यापार तथा समृद्धि का मँहगी के साथ संबंध न जोड़कर सीधे मुद्रा की राशि के साथ ही संबंध जोड़ दिया।

(घ) मांटस्क्यू (१७४८)। मांटस्क्यू ने भी मुद्रा की राशि तथा मँहगी का संबंध प्रकट किया है। वह लिखता है कि "मुद्रा ही पदार्थों की कीमत है।......पदार्थों की बाजार में आई हुई मात्रा तथा मुद्रा की राशि ही कीमतों के घटने बढ़ने का मुख्य कारण है। मुद्रा तथा पदार्थों की संख्या के अनुपात में ही कीमतें गति करती हैं।...अमेरिकन सोने चाँदी के आने से युरोप में उनकी राशि यदि बढ़ गई है तो पदार्थों की कीमतों को भी बीस गुना बढ़ना चाहिए। परंतु यदि पदार्थ भी दुगुने हो जायँ तो समीकरण के नियमों के अनुसार कीमतें दस ही गुना बढ़ेंगी।" मांटस्क्यू ने ही सबसे पहले मुद्रा के राशि-सिद्धांत को सिद्धांत के रूप में प्रकट किया था।

(ङ) बर्कले (१७३५)। बर्कले ने बिना किसी प्रकार के प्रमाण के मुद्रा के राशिसिद्धांत को दिया है। वह लिखता है कि "क्या यह सत्य नहीं है कि ज्यों ज्यों मुद्रा की राशि बढ़ती है त्यों त्यों पदार्थों की कीमतें भी बढ़ती हैं; और ज्यों ज्यों मुद्रा की राशि घटती है त्यों त्यों पदार्थों की कीमतें भी घटती हैं।"

(च) डेकर (१७४४)। सर मैक्यू डेकर ने भी मुद्रा की राशि तथा कीमतों के संबंध को देखा था। उसने लिखा है कि "स्पेन तथा पुर्त्तगाल ने अमेरिका में प्रवेश कर युरोप में सोने चाँदी की मात्रा बहुत ही अधिक बढ़ा दी। इसका परिणाम यह हुआ कि सोने चाँदी का मूल्य पूर्वापेक्षा बहुत ही घट गया। पहले एक शिलिंग के बदले जितनी चीज़ें मिलती थीं, अब बीस शिलिंग के बदले भी उतनी चीजें नहीं मिलती हैं······ इसीसे यह भी स्पष्ट है कि यदि सोने चाँदी की वर्त्तमान मात्रा को दुगुना कर दिया जाय तो भूमि तथा अनाज की कीमतें दुगुनी चढ़ जायँ।" डेकर के सदृश होगी, चाइल्ड आदि अनेक लेखक हो गए हैं जिन्होंने ऊपर लिखित विचार को पुष्ट किया है।

(छ) डेविड् ह्यूम (१७५२)। मांटस्क्यू के सदृश ही डेविड् ह्यूम् ने भी मुद्रा के राशिसिद्धांत को प्रकट किया है। वह लिखता है कि "यह एक स्वयंसिद्ध बात है कि पदार्थों की कीमतें मुद्रा की राशि पर निर्भर हैं। दोनों में से किसी में भी यदि परिवर्त्तन आवे तो इसका प्रभाव कीमतों पर पड़ता है। पदार्थों की मात्रा बढ़ा दो तो उनकी कीमतें गिर जायँ और सस्ती हो जायँ। इसके विपरीत मुद्रा की राशि बढ़ा दो तो पदार्थों की कीमतें भी चढ़ जायँ और मँहगी हो जाय। मुद्रा को संदूकों में बन्द करने का दूसरा अर्थ मुद्रा को नष्ट कर देना है। भ्रमण करती हुई मुद्रा तथा बाजार में आए हुए पदार्थों की मात्रा ही कीमतों का निश्चय करती है।" इस प्रकार स्पष्ट

है कि डेविड् ह्यूम् ने मुद्रा के राशिसिद्धांत में मुद्रा के भ्रमण को मुख्यता दी और उसी को स्पष्ट किया।

(ज) जोजफ हेरिस (१७५७)। डेविड् ह्यूम् के बाद इसी ने मुद्रा के प्रश्न को विशेष महत्व दिया। इसने लिखा है कि "मुद्रा की माँग अपरिमित है क्योंकि सभी सोने चाँदी को पसंद करते हैं। व्यवहार में आए पदार्थ तथा राष्ट्र में भ्रमण करती हुई मुद्रा ही कीमतों का निश्चय करती है। यदि मुद्रा की राशि घट या बढ़ जाय तो मुद्रा के प्रत्येक अंश की कीमत भी बढ़ या घट जाय।" सर जेम्स स्ट्यूअर्ट ही पहला मनुष्य है जिसने मुद्रा के राशिसिद्धांत की सचाई पर संदेह प्रकट किया। अब उसी पर कुछ लिखा जायगा।

(झ) सर जेम्स स्ट्यूअर्ट (१७६७)। इसने मुद्रा के राशि-सिद्धांत का खुले रूप से विरोध किया। उसने कीमतों के संबंध में लिखा कि "कीमतों का आधार पदार्थों की मात्रा, पदार्थों की माँग, क्रेता विक्रेताओं की स्पर्धा या प्रतियोगिता तथा क्रेताओं की आर्थिक शक्ति पर है -......पहले मुद्रा की तथा सोने चाँदी की मात्रा के बढ़ने से पदार्थों की माँग भी बढ़ जाय तब तो कीमतें भी बढ़ेंगी, अन्यथा नहीं"......ग्रेट ब्रिटेन की कीमतों के संबंध में किसी एक सिद्धांत का बताना असंभव है। जो कुछ कहा जा सकता है वह यही है कि व्ययियों की स्पर्धा से मँहगी और उत्पादकों की स्पर्धा से सस्ती होती है।" इस कथन में जो कुछ सचाई है वह यह है

कि सर जेम्स स्ट्यूअर्ट ने सोने चाँदी को भी एक पदार्थ मान कर उसके मूल्य को जानने का यत्न किया।

(ञ) आडम स्मिथ। आडम स्मिथ ने संपत्ति शास्त्र को एक शास्त्र का रूप दिया और मूल्य के प्रश्न पर विस्तृत रूप से लिखा। उसके शब्द हैं कि "अन्य पदार्थों के मूल्य के सदृश ही सोने चाँदी का मूल्य है। कभी वह सस्ते और कभी मँहगे होते हैं। श्रम तथा उत्पत्ति-व्यय का उनके मूल्य में विशेष भाग है। अमेरिका की स्वर्ण की खानों के आविष्कार से कम खर्च में सोना ज्यादा पैदा हो गया, अतः उसका मूल्य भी एक तिहाई रह गया।" सोने चाँदी का अन्य पदार्थों के साथ कहाँ तक सादृश्य है और कहाँ तक विसंवाद है, इसको आडम स्मिथ पुराने लेखकों की अपेक्षा अधिक जानता था।

(ट) रिकार्डो। आडम स्मिथ के सदृश ही रिकार्डो भी मुद्रा के राशिसिद्धांत में विश्वास रखता था। उसने लिखा है कि "पदार्थों का मूल्य उनके उत्पत्ति-व्यय पर है। माँग तथा उपलब्धि ही मूल्य के एक मात्र कारण नहीं है। माँग स्थिर रहने पर भी पदार्थों का मौद्रिक मूल्य बढ़ सकता है। मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन पदार्थों के मूल्य के बदलने में एक महत्त्वपूर्ण कारण है।"

(ठ) जान स्टूअर्ट मिल। मिल मुद्रा के राशिसिद्धांत में (कुछ संशोधन के साथ) विश्वास रखता था। उसने लिखा है कि "मुद्रा एक पदार्थ है। अन्य पदार्थों के सदृश ही इसकी अधिक

कीमतें, उपलब्धि तथा माँग के साथ और स्थिर कीमतें उत्पत्ति-व्यय के साथ संबद्ध हैं।" मुद्रा की उपलब्धि से तात्पर्य्य भ्रमण में आई हुई मुद्रा की राशि और उसकी माँग से तात्पर्य्य बाजार में आए हुए पदार्थों की मात्रा से है। मुद्रा तथा पदार्थ का पारस्परिक विनिमय होता है और उस विनिमय से कीमतें पैदा होती हैं।

उल्लिखित प्राचीन लेखकों के सदृश ही अनेक अर्वाचीन लेखकों ने भी मुद्रा के राशि सिद्धांत पर विचार किया है। विषय को स्पष्ट करने के लिये भिन्न भिन्न राष्ट्रों के चुने हुए लेखकों के मत नीचे देने का यत्न किया जायगा।

(क) फ्रांसिस वाकर। अमेरिका में मुद्रा के राशिसिद्धांत के योजकों में फ्रांसिस वाकर एक है। उसने लिखा है कि "उपलब्धि तथा माँग ही मुद्रा के मूल्य का मुख्य कारण हैं। मुद्रा की उपलब्धि का तात्पर्य्य मुद्रा की राशि तथा उसके भ्रमण से और उसकी माँग का तात्पर्य्य विक्रेयपदार्थों की राशि तथा अन्य बहुत सी बातों से संबद्ध है।"

(ख) जे. एस. निकल्सन। यह भी मुद्रा के राशिसिद्धांत में किसी हद तक विश्वास रखता है। इसका मत है कि १८५० से १८६४ तक मुद्रा की राशि के बढ़ने के कारण ही पदार्थों की कीमतें बढ़ीं। उसके शब्द हैं कि "सोना वाणिज्य-व्यापार के लिये एक प्रकार की आँधी है। इसकी अधिकता तथा कमी कीमतों को चढ़ाती तथा उतारती है।"

(ग) एल्फ्रड् मार्शल। मार्शल का विचार है कि "यदि अन्य बातें पूर्ववत् बनी रहें तो मौद्रिक धातु की वृद्धि तथा ह्रास के समानुपात में ही कीमतें बढ़ती तथा घटती हैं।"

(घ) एफ. डवल्यू. टासिग। उल्लिखित अन्य लेखकों के सदृश ही प्रोफेसर टासिग भी मुद्रा के राशिसिद्धांत के पक्ष में हैं।

(ङ) गोरान तथा गिफन। इंगलैण्ड में इन दोनों महाशयों ने मुद्रा के राशिसिद्धांत को पुष्ट किया था। परंतु आजकल गिफन इसी सिद्धांत के बहुत अधिक पक्ष में नहीं है। उसने लिखा है कि "अनेक तत्व हैं जो यह सिद्ध करते हैं कि मुद्रा की राशि की एकमात्र कीमतों के परिवर्तन में प्रधान कारण नहीं है। यह होते हुए भी उसका कीमतों के साथ घनिष्ट संबंध है। मुद्रा की राशि में परिवर्तन आने से कीमतों में भी परिवर्तन आ जाता है।"

जर्मनी के अर्थशास्त्रज्ञ मुद्रा के राशि-सिद्धांत को कहाँ तक समझते हैं, अब इसी पर प्रकाश डाला जायगा।

(क) विल्हल्म रोशर। इसके मत में मौद्रिक पदार्थ (Money Commodity) की उपलब्धि तथा माँग ही कीमतों का मुख्य कारण है। वह लिखता है कि "उत्पत्ति-व्यय के साथ उपलब्धि का घनिष्ट संबंध है। धातुओं का उत्पत्ति-व्यय भिन्न भिन्न खानों में भिन्न भिन्न है। उनकी कीमत निकृष्ट खान के उत्पत्ति-व्यय के तुल्य होती है।" देश की समृद्धि के साथ मुद्रा का

कोई घनिष्ट संबंध नहीं है। रोशर के मत में मुद्रा की माँग निम्नलिखित कारणों से संबद्ध है—

(१) एक समय में मुद्रा कितने लेनदेन की साधक है ?

(२) मुद्रा की गति या भ्रमण कितना तीक्ष्ण है ?

(३) मुद्रा के स्थान पर प्रयुक्त होनेवाले पदार्थों का भ्रमण कितना तीक्ष्ण है ?

(ख) शाफे। रोशर के सदृश ही ए. ई. एफ शाफे का विचार है। वह लिखता है कि "सभी पदार्थों की कीमतें उपलब्धि की ओर उत्पत्ति-व्यय पर और माँग की ओर वैयक्तिक व्यवहार पर निर्भर हैं। मुद्रा में भी यही नियम काम करता है।" मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन माँग तथा उपलब्धि के कारण ही है। इसीको निम्नलिखित वर्गीकरण प्रकट करता है—

(१) उपलब्धि की ओरः—

(क) मौद्रिक धातु के उत्पत्ति-व्यय में भेद।

(ख) गड़ी हुई धातु का बाहर निकालना या व्यवहार में प्रयुक्त धातु का गाड़ना।

(२) माँग की ओरः—

(क) मुद्रा की माँग का घटनाः—

(१) व्यवहार या व्यापार की शिथिलता।

(२) मुद्रा के भ्रमण की तीक्ष्णता।

(३) मुद्रा के स्थान पर प्रयुक्त होनेवाले पदार्थ का व्यवहार बढ़ना।

(ख) मुद्रा की माँग का बढ़ना:—

(१) अन्न की उत्पत्ति का कम होना। फसल का बिगड़ना। इससे विदेश से अनाज मँगाने के लिये मुद्रा की माँग बढ़ जाती है।

(२) मुद्रा के रूप में पूँजी का व्यापार व्यवसाय में अधिक अधिक विनियोग।

(३) युद्ध का हरजाना।

(ग) यूजेन वान फिलिप्पाविच। इसने भी मुद्रा तथा कीमत पर अच्छा प्रकाश डाला है। यह लिखता है कि "मुद्रा के व्यावहारिक मूल्य या कीमत में फरक डालनेवाले दो श्रेणी के कारण हैं। प्रथम श्रेणी के कारण—पदार्थों के व्यवहार में परिवर्तन, उत्पत्ति-व्यय का बदलना या न बदलना, या न व्यय की घटी-बढ़ी और माँग तथा उपलब्धि के हेरफेर के साथ संबद्ध है। कीमतों का प्रतिदिन चढ़ाव उतार इन्हीं कारणों से होता है। द्वितीय श्रेणी के कारण मुद्रा के साथ जुड़े हुए हैं। अन्य पदार्थों के सदृश ही मुद्रा की उत्पत्ति तथा उत्पत्ति-व्यय में भेद आने से या उसके व्यवहार में परिवर्तन होने से कीमतें बदल जाती हैं।" उसके इस कथन का जो कुछ निष्कर्ष है, वह यही है कि व्यवहार में आई हुई मुद्रा की धातु की माँग तथा उपलब्धि कीमतों के परिवर्तन का एक प्रधान कारण है।

(घ) वालरस। गणितीय संप्रदाय का मुख्य विद्वान् वालरस मुद्रा के राशिसिद्धांत के पक्ष में है। वह लिखता है कि "यदि

और सब अवस्थाएँ पूर्ववत् बनी रहें तो मुद्रा की राशि के बढ़ने के साथ ही साथ कीमतें बढ़ जाती हैं। यदि मुद्रा की राशि घट जाय तो कीमतें भी घट जाती हैं।"

(ङ) लिराय ब्यूलियो। फ्रांस का प्रसिद्ध अर्थतत्वज्ञ लिराय ब्यूलियो भी मुद्रा के राशिसिद्धांत को सत्य समझता है। डि निरी, अचिल्लोरिया तथा पैन्टै लियानी आदि अनेक विद्वानों ने इस सिद्धांत पर प्रकाश डाला है और सभी ने इसको किसी न किसी रूप में सत्य माना है। आजकल इर्विंग फिशर ने इस सिद्धांत को विशेष तौर पर महत्व दिया है। इसलिये अब उन्हींके सिद्धांत पर विस्तृत रूप से प्रकाश डाला जायगा।

२—इर्विंग फिशर प्रतिपादित मुद्रा का राशि-सिद्धांत।

अमेरिका के प्रसिद्ध अर्थतत्वज्ञ इर्विंग फिशर ने मुद्रा के राशि सिद्धांत को पुष्ट करने के लिये 'दि पर्चेसिंग पावर आफ मनी' नामक ग्रंथ लिखा है। उन्होंने सिद्धांत की विस्तृत व्याख्या करने से पूर्व सिद्धांत को दो भागों में विभक्त किया है। प्रथम भाग में साख से संबद्ध मुद्रा का बहिष्कार कर एकमात्र मौद्रिक धातु का कीमतों के साथ संबंध दिखाया है। द्वितीय भाग में साख-जन्य मुद्रा को भी मुद्रा मानकर राशिसिद्धांत को प्रकट किया है। इर्विंग फिशर प्रतिपादित मुद्रा का राशिसिद्धांत लिखने के लिये उन्हींके क्रम का अनुसरण किया जायगा।

(क) मुद्रा के राशिसिद्धांत का प्रथम रूप।

कल्पना करो कि समाज में साख-जन्य मुद्रा का प्रयोग नहीं

है। इस दशा में साधारण कीमतों के निम्नलिखित तीन कारण होंगे।

(१) भ्रमण करती हुई मुद्रा की राशि।

(२) मुद्रा की कार्य्यक्षमता (एक वर्ष में कितना क्रय विक्रय करती है)

(३) व्यापार की मात्रा।

मुद्रा के राशिसिद्धांत का समीकरण बनाने के लिये कल्पना करो कि एक आदमी १॥=) का दो आने सेर के भाव से तेरह सेर गेहूँ खरीदता है। इसी को समीकरण में २ × १३ के रूप में लिखा जायगा। समीकरण के द्वितीय पक्ष में समाज में प्रचलित धातु की मुद्राओं को रखा जायगा और उसकी कार्य्यक्षमता दिखाने के लिये उसका भ्रमण भी दे दिया जायगा।

यदि किसी राष्ट्र में धातु के ५ मिलियन अर्थात् ५००० ००० पच्चास लाख रुपये हों और उनका भ्रमण बीस हो तो समीकरण का एक पक्ष ५०००००० × २० होगा। इसी प्रकार यदि उस राष्ट्र में अनेकों पदार्थ खरीदे बेचे जाते हों और उनके प्रतिनिधि के रूप में तीन पदार्थ—१ अंक, २ कपड़ा, ३ कोयला मान लिए जायँ तो समीकरण निम्नलिखित प्रकार हुआ।

५००० ००० × २० = २०० लाख मन गेहूँ × ३ रुपये मन के भाव से
+ १५० लाख मन कोयला × २ रुपये मन के भाव से
+ १०० लाख गज कपड़ा × १ रुपये गज के भाव से

गणित के नियमों के अनुसार समीकरण के एक पक्ष में जिस ढंग का परिवर्तन किया जाय, उसी ढंग का परिवर्तन द्वितीय पक्ष में भी करना नितांत आवश्यक है। दृष्टांत स्वरूप यदि मुद्रापक्ष में दुगुना किया जाय तो द्वितीय पक्ष के प्रत्येक अंग को भी दुगुना करना आवश्यक है। इसीका दूसरा तात्पर्य्य यह है कि मुद्रा के दुगुने होने पर भाव का दुगुना होना या पदार्थों की मात्रा का दुगुना होना जरूरी है। दृष्टांत स्वरूप मुद्रा के दुगुने होने पर समीकरण इस प्रकार होगा—

५००००००×२०×२ = २००×६ रुपये मन के भाव से
+ १५०×४ रुपये मन के भाव से
+ १००×२ रुपये मन के भाव से

५००००००×२०×२ = ४०० लाख मन गेहूँ × ३ रुपये मन के भाव से
+ ३०० लाख मन कोयला × २ रुपये मन के भाव से
+ २०० लाख गज कपड़ा × १ रुपये गज के भाव से।

उल्लिखित समीकरण को तुला द्वारा भी प्रकट किया जा सकता है। समीकरण के सदृश ही तुला में भी दो पक्ष होते हैं। संतुलन के लिये दोनों पक्षों का भार आवश्यक होता है। एक पक्ष का भार यदि दुगुना कर दिया जाय तो संतुलन के लिये आवश्यक है कि दूसरे पक्ष का भार भी दुगुना किया

जाय। तुला द्वारा समीकरण निम्नलिखित रूप से प्रकट किया जा सकता है।
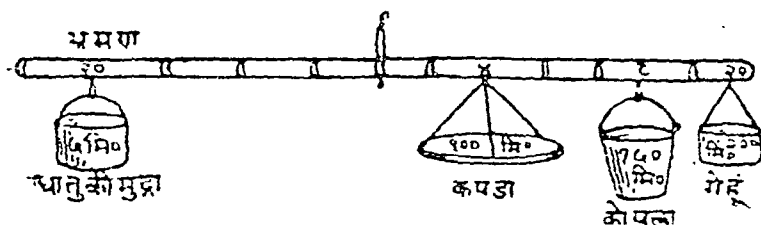
तुला के मुद्रापक्ष में ५ मिलियन अर्थात् ५० लाख रुपयों का थैला है जो कि तुला दण्ड की बीस संख्या पर लटक रहा है। मुद्रापक्ष में तुला दंड की संख्याएँ उसके भ्रमण को सूचित करती हैं। पदार्थ पक्ष में तुलादंड की संख्याएँ भाव या दर को प्रगट करती हैं जो आनों में दिया गया है। यदि मुद्रा की मात्रा या भ्रमण दुगुना हो जाय तो पदार्थ पक्ष में या तो उनकी मात्रा दुगुनी हो जाय या प्रत्येक पदार्थ का थैला तुला-दंड के सिरे की ओर खिसक जाय; अर्थात् कपड़े का थैला ८ पर, कोयले का थैला १६ पर और गेहूँ का थैला २४ संख्या पर जा पहुँचे। यदि मुद्रापक्ष में कुछ भी परिवर्तन न हो और पदार्थ की मात्रा दुगुनी हो जाय तो उसकी दर आधी रह जाय। यदि दर भी स्थिर बनी रहे तो मुद्रा के भ्रमण में दुगुनी तेजी आ जाय।

समीकरण में तीनों पदार्थों का माध्यम निकालकर काम किया जा सकता है। तुला द्वारा माध्यम का व्यवहार करने

के लिये संपूर्ण पदार्थों को एक थैले में कर दो और उनकी दर का माध्यम निकालो। तीनों पदार्थों का योग (२००+१५०+१००=४५०) चार सौ पचास लाख मन होता है जो कि ५० लाख रुपयों के द्वारा खरीदा जाता है जिसका भ्रमण बीस है। ५० लाख रुपयों को बीस से गुणा करने पर और ४५० लाख मन पदार्थों से भाग देने पर २·२ रुपये अर्थात् ८·८ चवन्नियाँ प्राप्त होती हैं। यही कारण है कि तुला में तीनों पदार्थों को ८·८ पर लटकाना आवश्यक है जैसा कि निम्नलिखित चित्र से स्पष्ट है।
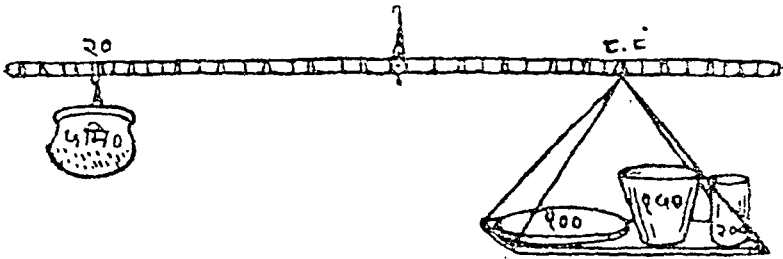
चित्र से स्पष्ट है कि मध्यम मूल्यों का परिवर्तन मुद्रा तथा उसके भ्रमण के परिवर्तनों के समानुपात में होता है।

तुला के सदृश ही बीजगणित से भी मुद्रा के राशिसिद्धांत का समीकरण प्रकट किया जा सकता है। निम्नलिखित समीकरण के अंगों के स्थान पर निम्नलिखित अक्षरों की कल्पना कर लो—

धातु-मुद्रा की राशि............ = म

धातु-मुद्रा का भ्रमण .... = भ्र

पदार्थों की कीमतें .... = क′ क″ क‴ इत्यादि

पदार्थों की तौल तथा मात्रा ...... = त

बीजगणित के अनुसार मुद्रा के राशिसिद्धांत का समीकरण इस प्रकार हुआ—

म भ्र = क त
+ क′ त′
+ क″ त″
+ क‴ त‴ इत्यादि

अब यदि म दुगुना हो जाय और भ्र पूर्ववत् स्थिर बना रहे तो क या त में से कोई न कोई दुगुना अवश्य हो जायगा। पदार्थों के माध्यम को सिग्मा Σ द्वारा प्रकट करते हुए समीकरण इस प्रकार होता है।

म भ्र = Σ क त

समीकरण में किसी अंग को भी यदि दुगुना किया जाय तो निम्नलिखित परिवर्तन हो सकते हैं—

(१) २ म भ्र = Σ २ क त

(२) म $\frac{\text{भ्र}}{२}$ = Σ कत

(३) २ मभ्र = Σ क, २ त

(४) २ मभ्र = Σ ४ क × $\frac{\text{त}}{२}$ इत्यादि

(ख) मुद्रा के राशिसिद्धांत का द्वितीय रूप।

राशिसिद्धांत के प्रथम रूप में कल्पना की गई थी कि "साख का प्रयोग नहीं है"। परंतु आजकल कदाचित् ही कोई ऐसा अभागा समाज होगा जिसमें साख का प्रयोग न हो। राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा में साख का महत्वपूर्ण भाग है।

साख के प्रभाव को देखने के लिये धरोहर में धन रखनेवाले बंकों का कार्य्यक्रम जानना आवश्यक है। विषय को समझने के लिये किसी ऐसे ही एक बंक की कल्पना करो। शुरू शुरू में अमस्टर्डम में एक ऐसा ही बंक खुला था जो लोगों का धन सुरक्षित रूप से रखता था। कल्पना करो कि कुछ मनुष्यों ने बंक में एक लाख रुपया जमा किया और उसके बदले रसीदें प्राप्त कीं। बंक की बहियों में पूँजी का हिसाब इस प्रकार लिखा जायगा—

पूँजी (assets)	ऋण (liabilities)
चाँदी···१०००००	देयधन···१०००००

धरोहर में धन जमा करनेवाले कई पुरुषों के होने से बंक का हिसाब इस प्रकार होगा—

पूँजी (assets)	ऋण (liabilities)
चाँदी···१०००००	देयधन [क] १००००
	" [ख] १००००
	" [ग] ८००००

यदि क, ख को दो हजार रुपया देना चाहे तो वह बंक

जाकर अपना चैक ख को दे सकता है। ख चैक प्राप्त करके दो हज़ार रुपया घर ले जाना पसंद न कर बंक में ही जमा कर सकता है। ऐसी दशा में बंक का हिसाब इस प्रकार होगा—

पूँजी		ऋण	
चाँदी	१०००००	देयधन [क]	८०००
		" [ख]	१२०००
		" [ग]	८००००
			१०००००

क अन्य उत्तमर्णों को भी ख के सदृश ही चैक द्वारा रुपया दे सकता है। बंक का धन पूर्ववत् बना रहता है। केवल एक के नाम का देयधन दूसरे के नाम कर दिया जाता है। मौद्रिक धातु को बिना माध्यम बनाए ही चैकों के द्वारा बड़ी सुगमता से लेनदेन चुकता कर दिया जाता है।

आजकल चैकों का व्यवहार बहुत ही अधिक बढ़ गया है। इंग्लैंड में मुद्रा का स्थान चैकों ने ही ले लिया है। विचार करने से स्पष्ट होगा कि चैक एक प्रकार का अधिकारपत्र है जो एक के नाम में जमा धन को दूसरे के नाम कर देता है।

बंक जनता के जमा किए हुए धन को व्यवहार में लाते हैं। वे उसका बहुत थोड़ा अंश कोष में रखते हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि बंक निश्चित समय के लिये ही प्रायः धन जमा करते हैं। उस समय के बीच में वे उस धन का स्वेच्छानुसार प्रयोग

कर सकते हैं। पूँजी या संपत्ति के आधार पर बंक यदि ५०००० रुपया उधार दे तो उसका हिसाब इस प्रकार होगा:—

पूँजी		ऋण	
चाँदी	१००००००	देयधन [क]	८०००
+ ५०००० संपत्ति या पूँजी संबंधी प्रमाणपत्र		” [ख]	१२०००
		” [ग]	८००००
		” [नए व्यक्ति] जिन्होंने बंक से धन उधार लिया है	५००००
	१५००००		१५००००

बंक वैयक्तिक प्रीति, स्नेह, मैत्री आदि का खयाल करके रुपया उधार नहीं देते। संपत्ति तथा अचल पूँजी के आधार पर ही वे धन उधार देते हैं। जब कभी भूल से किसी ऐसे व्यापारी को धन उधार दे दिया जाय, जो अंदर से पोला हो तो उस धन को बंक के हिसाब में नष्ट ऋण (bad debt) के नाम से लिखा जाता है।

बंक अचल पूँजी तथा स्थिर संपत्ति पर धन उधार देकर उसको चल पूँजी बना देते हैं। वह भी मुद्रा के सदृश भ्रमण करने लगती है। निस्सन्देह यह कार्य्य बंक अपने नगद धन की सीमा के भीतर ही कर सकते हैं। परंतु इसका यह तात्पर्य्य नहीं है कि बंक प्रायः भूल नहीं करते। उनको भूलों से प्रायः

आर्थिक दुर्घटनाएँ हो जाती हैं। आजकल अच्छे बंक निम्नांकित बातों का खयाल करके नकदी रखते हैं—

(१) यदि अधिक धन जमा करनेवाले इने गिने व्यक्ति हों तो नकदी बहुत रखी जाती है।

(२) व्यापारीय नगरों में जो बंक अपना कार्य्य करते हैं वह भी नकदी बहुत अधिक रखते हैं।

(३) चलते खाते में जब धन ज्यादा हो तब खतरे से बचने के लिये नकदी अधिक रखी जाती है।

(४) यदि धरोहर में रखे धन की तिथि अनिश्चित हो तो बंकों को नकद धन बहुत सा रखना पड़ता है।

यह पूर्व में ही लिखा जा चुका है कि बंक के धरोहरों की राशि को चैक के द्वारा एक दूसरे के नाम बदला जा सकता है। अचल पूँजी तथा स्थिर संपत्ति भी भ्रमणीय बना दी गई है। अतः वह भी प्रायः जमा धन के हिसाब से ही काम करती है और उसके आधार पर बंक से धन उधार लिया जा सकता है और चैक का व्यवहार किया जा सकता है। चैक मुद्रा के सदृश ही काम करता है। एक तरीके से उसको मुद्रा ही समझना चाहिए।

मुद्रा के राशिसिद्धांत का "मभ्र = ≥ कत" सूत्र अपरिपूर्ण है; क्योंकि इसमें साख-जन्य मुद्रा का उल्लेख नहीं है। धरोहर तथा धरोहर के आधार पर निकाले गए चैकों को भी

मुद्रा समझना चाहिए और उनको भी इस सूत्र में स्थान देना चाहिए। इससे सूत्र का रूप निम्नलिखित होगा—

म भ्र + म' भ्र' = ≥ कत

इसमें म' धरोहर संबंधी मुद्रा और भ' उसके भ्रमण को प्रकट करता है। इसी सूत्र को तुला द्वारा इस प्रकार प्रकट किया जा सकता है।
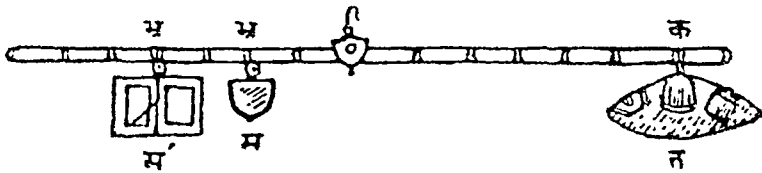
इससे जो कुछ परिणाम निकलता है वह यही है कि जिन देशों में चैक आदि का प्रयोग बहुत ही अधिक है, उनमें मुद्रा-प्रधान देशों की अपेक्षा कीमतें अधिक होंगी। अब क्रमशः मुद्रा तथा उसके भ्रमण को, व्यापार तथा उसकी गति को घटाने बढ़ानेवाले तत्वों पर प्रकाश डाला जायगा।

३—मुद्रा की क्रयशक्ति पर अप्रत्यक्ष प्रभाव।

मुद्रा के राशिसिद्धांत-पोषकों का मत है कि म भ + म' भ्र' तथा त ही कीमतों पर प्रत्यक्ष रीति से प्रभाव डालते हैं। अन्य कारण इन्हीं के द्वारा अपना काम करते हैं। दृष्टांतस्वरूप त अर्थात् व्यापार को ही लीजिए। व्यापार पर प्रभाव डालने-वाले निम्नलिखित कारण हैं:—

(१) उत्पादकों को प्रभावित करनेवाले:—

(क) भौगोलिक भिन्नता।

(ख) श्रमविभाग।

(ग) उत्पत्ति विज्ञान।

(घ) पूँजी संचय।

(२) व्ययियों को प्रभावित करनेवाले:—

(क) मानवी आवश्यकता में वैचित्र्य तथा विस्तार।

(३) उत्पादक तथा व्ययी को प्रभावित करनेवाले:—

(क) यान तथा गमनागमन की सुगमता।

(ख) व्यापार स्वातंत्र्य।

(ग) मुद्रा तथा बैंक प्रणाली।

(घ) व्यापारीय साख।

(१) उत्पादकों को प्रभावित करनेवाले तत्वों पर ही अब क्रमशः प्रकाश डाला जायगा।

(क) भौगोलिक भिन्नता। यदि सब देश एक सदृश हों और सभी में जरूरत के संपूर्ण पदार्थ होते हों तो व्यापार की कुछ भी जरूरत न रहे। भौगोलिक भिन्नता का व्यापार वृद्धि में विशेष भाग है। सोने चाँदी की खानों के खतम होने से नवेदा का और जंगल के कट जाने से मिशीगान का व्यापार बहुत ही घट गया। इसके विपरीत झरिया-रानीगंज में कोयले की खान निकलने से तथा मानभूम जिले में लोहे आदि धातु की खुदाई शुरू होने से व्यापार बहुत ही बढ़ गया।

(ख) श्रमविभाग। श्रमविभाग का भी व्यापार पर विशेष तौर पर प्रभाव पड़ता है। कार्य्यक्षमता तथा उत्पत्तिव्यय-भिन्नता के साथ श्रमविभाग का घनिष्ठ संबंध है। श्रमविभाग से व्यवसाय स्थानीय होकर व्यापार को बढ़ाते हैं। बनारस साड़ियों के लिये, मुर्शिदाबाद रेशमी सामान के लिये तथा काश्मीर दुशालों के लिये प्रसिद्ध है। इसका परिणाम यह है कि एक दूसरे स्थान से चीजें मँगाई जाती हैं। इससे व्यापार बढ़ता है।

(ग) उत्पत्ति-विज्ञान। स्थानीय तथा वैयक्तिक भेद के सदृश ही उत्पत्ति का ज्ञान भी व्यापार-वृद्धि का मुख्य कारण है। अफ्रीका, अमेरिका तथा रानीगंज-झरिया की खानें सदियों तक न खुदीं; क्योंकि खनिज पदार्थों का तथा उनकी खुदाई का ज्ञान लोगों को न था। इस ज्ञान के बढ़ने के साथ ही साथ भिन्न भिन्न स्थानों का व्यापार बढ़ गया है।

(घ) पूँजी संचय—आजकल उत्पत्ति में पूँजी का महत्व बहुत ही अधिक बढ़ गया है। बहुमात्रा में पदार्थ उत्पन्न करने के लिये पूँजी की बहुत जरूरत है। यही कारण है कि पूँजी संचय भी व्यापार-वृद्धि में एक मुख्य कारण है।

(२) व्ययियों को प्रभावित करनेवाले कारणों में केवल एक ही कारण ध्यान देने के योग्य है जो इस प्रकार है—

(क) मानवी आवश्यकता में वैचित्र्य तथा विस्तार—आर्थिक चक्र का आधार माँग है। भिन्न भिन्न जरूरतों के बढ़ने से माँग में

विशेष वृद्धि होती है। माँग के अनुसार पदार्थ उत्पन्न किए जाते हैं और व्यापार व्ययियों तक उन पदार्थों को पहुँचाता है। कपड़ों, धातविक द्रव्यों तथा आभूषणों के वैचित्र्य तथा विस्तार से माँग तथा व्यापार बहुत ही बढ़ गया है।

(३) उत्पादक तथा व्ययी को प्रभावित करनेवाले कारण निम्नलिखित प्रकार हैं—

(क) यान तथा गमनागमन की सुगमता—यान तथा गमनागमन का व्यापार से घनिष्ठ संबंध है। गमनागमन को बढ़ानेवाले कारण व्यापार को भी बढ़ाते हैं। रेलों, वाष्पीय पोतों तथा तारों से व्यापार बहुत ही अधिक बढ़ गया है।

(ख) व्यापार स्वातन्त्र्य—बहुत से राष्ट्र स्वदेशीय व्यवसायों को बचाने के लिये सामुद्रिक चुंगी बढ़ा देते हैं। इस ढंग की व्यापार-बाधाओं से व्यापार घटता है। यही कारण है कि व्यापार स्वातन्त्र्य को व्यापार का उत्तेजक माना जाता है।

(ग) मुद्रा तथा बैंक प्रणाली—अर्वाचीन व्यापार में मुद्रा तथा बैंक प्रणाली का विशेष रूप से भाग है। अन्तर्जातीय व्यापार तथा अन्तर्जातीय लेनदेन तो एक प्रकार से बैंक प्रणाली का ही एक अंग है। बैंकों को अर्वाचीन व्यापार का प्राण समझा जाता है। यही बात मुद्रा के साथ है। निकृष्ट मुद्रा के कारण व्यापार में बड़ी रुकावटें पड़ती हैं।

(घ) व्यापारीय साख—साख पर व्यापार का आधार है। यदि पारस्परिक विश्वास न हो तो लेनदेन न हो सके। दक्खिनी

अमेरिका में अनेक स्थल हैं जहाँ उत्पत्ति तथा व्यापार बढ़ सकता है। परंतु पूँजीपतियों को वहाँ विश्वास नहीं है, इसी लिये उत्पत्ति तथा व्यापार रुका हुआ है। यही बात नैपाल तथा अफ़गानिस्तान के साथ है। भारतीयों को यह विश्वास नहीं है कि यहाँ पूँजी लगाने से वह सुरक्षित रह सकती है।

व्यापार मात्र को प्रभावित करनेवाले बाह्य कारणों के सदृश ही अनेक बाह्य कारण हैं जो मुद्रा तथा धरोहर का भ्रमण बढ़ाते हैं। दृष्टांत स्वरूप—

(१) व्यक्तिगत स्वभाव—

(क) मितव्ययता।

(ख) बही खाता।

(ग) हुंडी तथा बैंक का प्रयोग।

(२) लेनदेन की प्रणाली—

(क) लेनदेन में शीघ्रता।

(ख) लेनदेन में नियम।

(ग) लेनदेन का व्यवहार तथा समय।

(३) साधारण कारण—

(क) जनसंख्या की वृद्धि।

(ख) गमनागमन की वृद्धि।

(१) व्यक्तिगत स्वभाव का निम्नलिखित तीन तरीकों से मुद्रा तथा धरोहर के भ्रमण पर प्रभाव पड़ता है।

(क) मितव्ययता—मितव्ययता का मुद्रा तथा धरोहर के

भ्रमण पर बहुत ही अधिक प्रभाव पड़ता है। फजूल खर्च की मुद्रा बहुत ही अधिक भ्रमण करती है। मितव्ययी रुपया जमा रखकर मुद्रा के भ्रमण को कम कर देता है। यही बात धरोहर के साथ है। रुपया जमीन में गाड़ने से और गड़ा रुपया भ्रमण में लाने से मुद्रा के भ्रमण पर जो प्रभाव पड़ता है, वह अत्यंत स्पष्ट है।

(ख) वही-खाता। वही-खाते का मुद्रा के भ्रमण के साथ घनिष्ट संबंध है। नकदी व्यवहार में सभी को नकद रुपया जमा रखना पड़ता है। इससे मुद्रा का भ्रमण रुकता है। वही-खाते के द्वारा कार्य्य चलने से किसी को भी नकद रुपया नहीं रखना पड़ता। अतः स्वाभाविक है कि मुद्रा का भ्रमण बहुत ही अधिक बढ़ जाय।

(ग) हुंडी तथा चैक का प्रयोग—वही खाते के सदृश ही हुंडी तथा चैक के प्रयोग का भी मुद्रा के भ्रमण पर प्रभाव पड़ता है। बैंक में जमा किया हुआ रुपया व्यापार व्यवसाय की उन्नति में खर्च किया जाता है और इस प्रकार जनता में प्रचलित होकर भ्रमण करता रहता है। यदि उसीको बैंक में न जमा किया जाय तो वह प्रयोग-काल से पूर्व तक संदूक में बंद रहता है और भ्रमण से रुक जाता है। स्वाभाविक है कि हुंडी तथा चैक का निरंतर प्रयोग करनेवाले राष्ट्र में मुद्रा का भ्रमण बहुत ही अधिक होगा।

(२) लेनदेन की प्रणाली का मुद्रा के भ्रमण पर प्रभाव इस प्रकार दिखाया जा सकता है—

(क) लेन-देन में शीघ्रता—लेन-देन में जितनी शीघ्रता होगी, उतना ही मुद्रा तथा धरोहर का भ्रमण बढ़ेगा। दृष्टांतस्वरूप वेतन को ही लीजिए। यदि वेतन मासिक के स्थान पर साप्ताहिक हो जाय तो मुद्रा का भ्रमण बहुत ही अधिक बढ़ जाय। क्योंकि जो मुद्रा मास में एक बार खर्च होती थी वही अब हर सप्ताह खर्च में आने लगेगी।

(ख) लेन-देन में नियम—लेन-देन यदि नियमबद्ध हो तो लोग रुपया भविष्य के लिये जमा नहीं करते। इससे मुद्रा का भ्रमण बढ़ जाता है। लोग एक हाथ से रुपया पाते हैं और दूसरे हाथ से खर्च कर देते हैं। यदि लेन-देन अनियमित हो तो उनको भविष्य का खयाल कर संदूकों में रुपया जमा करना पड़े।

(ग) लेन-देन का व्यवहार तथा समय—जिन देशों में टैक्स, लगान, ब्याज आदि मनुष्य या अधमर्ण की आमदनी को सामने रखकर नहीं लगाए जाते, वहाँ लोगों को रुपया संदूकों में जमा करना पड़ता है। क्योंकि जब उनकी आमदनी होती है तब उनको मालगुजारी या टैक्स नहीं देना पड़ता; और जब उनको टैक्स या मालगुजारी देनी पड़ती है तब उनकी आमदनी नहीं होती। इस दशा में यदि लोगों को रुपया जमा करना पड़े तो आश्चर्य करना वृथा है। इसका मुद्रा के भ्रमण पर बहुत ही अधिक प्रभाव पड़ता है।

(३) मुद्रा के भ्रमण को प्रभावित करनेवाले वाह्य साधारण कारण इस प्रकार हैं—

(क) जनसंख्या की वृद्धि—जिस देश की जितनी घनी आबादी है उसमें मुद्रा का भ्रमण भी उतना ही अधिक होता है। भिन्न भिन्न नगरों में मुद्रा का भ्रमण इस प्रकार है—

नगर	मुद्रा का भ्रमण
पैरिस	११६
बर्लिन	१६१
ब्रूसल्ज़	१२३
मैड्रिड	१४
रोम	४३
लिस्बन	२६
इंडियानो पालिस	३०
न्यू हैवन	१६
एथेन्स	४
सन्ना वावेंरा	१

(ख) गमनागमन की वृद्धि—जितनी तेज रेल तथा वाष्पीय पोत होंगे उतना ही तेज मुद्रा का भ्रमण होगा। तारों आदि से मुद्रा का भ्रमण बहुत ही अधिक बढ़ गया है। यही बात विमानों से भी होगी। कीमतों की वृद्धि में इन चीजों का जो भाग है वह भुलाया नहीं जा सकता।

म भ्र + म' भ्र' में भ्रमण या भ्र + भ्र' को बढ़ानेवाले बाह्य कारणों पर प्रकाश डाला जा चुका है। अब म या मुद्रा की राशि को घटाने बढ़ानेवाले बाह्य कारणों पर प्रकाश डाला जायगा।

संक्षेप से ऐसे बाह्य कारण चार कहे जा सकते हैं:—

(क) मुद्रा के आयात निर्यात से संबद्ध कारण।

(ख) मुद्रा के बनाने तथा गलाने से संबद्ध कारण।

(ग) मुद्रा की उत्पत्ति तथा व्यय से संबद्ध कारण।

(घ) मुद्रा तथा बैंक-प्रणाली से संबद्ध कारण।

अब क्रमशः एक एक बाह्य कारण पर प्रकाश डाला जायगा।

(क) मुद्रा के आयात निर्यात से संबद्ध कारण—अन्तर्जातीय व्यापार का मुद्रा के साथ घनिष्ठ संबंध है। मुद्रा का गमनागमन प्रायः व्यापार के अनुसार प्रतिदिन होता रहता है। द्विधातवीय मुद्रा विधि का सबसे बड़ा दोष यही था कि अच्छी तथा उत्कृष्ट मुद्रा दूसरे देश में चली जाती थी और निकृष्ट मुद्रा देश में रह जाती थी। जर्मन मार्कों का दाम गिरते ही अनेक देशों ने उनको खरीद लिया और इस प्रकार उनकी कीमत को बहुत ही अधिक गिरने से कुछ कुछ रोक दिया। यहाँ पर ही बस नहीं। आजकल संसार के भिन्न भिन्न देशों की कीमतें एक दूसरे को प्रभावित करती रहती हैं। वाष्पीय पोत, रेल तथा तार के होने से बहुत सी चीज़ों का बाजार संसार-विस्तृत हो गया है। एक राष्ट्र की कीमतों का प्रभाव शीघ्र ही दूसरे राष्ट्रों पर पड़ता है और मुद्रा का आयात तथा निर्यात प्रति दिन की घटना हो गई है।

(ख) मुद्रा के बनाने तथा गलाने से संबद्ध कारण:—सोने तथा चाँदी की धातु मुद्रा के सदृश ही आभूषण में भी काम आती

है। असल बात यह है कि आभूषण तथा अन्य कार्य्यों में सोने चाँदी के प्रयुक्त होने से ही उनको मुद्रा के रूप में आने का मौका मिला। टकसालों के खुले होने से सोने चाँदी का सरकारी अनुपात धातु-मुद्रा के गलाने तथा धातु मुद्रा के बनवाने के द्वारा कुछ समय तक स्थिर रहता है। जब स्वर्ण मुद्रा में बाजारी भाव से ज्यादा सोना हो तब लोग उसको गला देते हैं और जब स्वर्ण मुद्रा में सोना कम हो तो लोग बाजार से सोना खरीदकर स्वर्ण मुद्राएँ बनवाते हैं और इस प्रकार दोनों तरीकों से लाभ उठाते हैं। यही कारण है कि मुद्रा की राशि का उसके गलाने तथा बनवाने के साथ घनिष्ट संबंध है।

(ग) मुद्रा की राशि पर सोने चाँदी की उत्पत्ति तथा व्यय का बहुत ही अधिक प्रभाव पड़ता है। ज्यों ज्यों सोने चाँदी की उत्पत्ति बढ़ती है त्यों त्यों मुद्रा की राशि भी बढ़ जाती है और उसकी क्रयशक्ति बहुत ही अधिक घट जाती है। उसकी क्रय-शक्ति घटने का दूसरा तात्पर्य्य यह है कि पदार्थ मँहगे हो जायँ। इसी प्रकार सोने चाँदी के उत्पत्ति-व्यय के बढ़ने से वह कम मात्रा में खोदा जाता है। इसका प्रभाव मुद्रा की राशि पर भी पड़ता है। इसको निम्नलिखित चित्र द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है:—

च वर्त्तन स्वर्णभांडार का द्योतक है। उसमें त पार्श्व से—जो कि सोने की खानों को प्रकट करता है—सोना आता है। स्वर्णभांडार का घ पार्श्व स्वर्ण के व्यय का सूचक है। स्वर्ण को
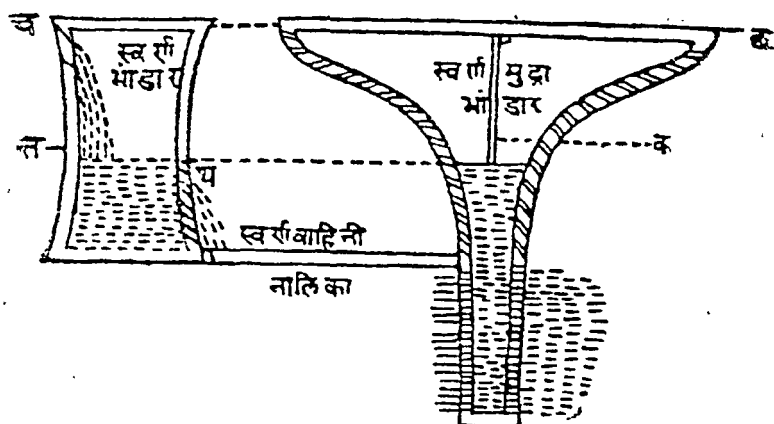
यदि जल समझ लिया जाय तो जितना अधिक स्वर्णभांडार में सोना होगा, उतना ही अधिक घ के द्वारा वह बाहर निकल जायगा। घ के सदृश ही बहुत सा सोना स्वर्णवाहिनी नलिका द्वारा स्वर्णमुद्रा भांडार में पहुँच जायगा। पानी के नियम के अनुसार स्वर्णभांडार तथा स्वर्णमुद्रा भांडार की सतह एक ही होगी। सारांश यह कि ज्यों ज्यों स्वर्णभांडार में सोना अधिक आवेगा, त्यों त्यों स्वर्णमुद्राभांडार में मुद्रा की राशि बढ़ती जायगी और उसकी क्रयशक्ति को सूचित करनेवाली क रेखा कम होती जायगी। इसी प्रकार स्वर्णभांडार में सोने के घटने से उसका व्यय भी कम होगा, स्वर्णमुद्राभांडार की सतह घट जायगी और क भी बढ़ जायगा। अर्थात् स्वर्णमुद्रा की क्रय-शक्ति पूर्वापेक्षया अधिक हो जायगी।

(घ) मुद्रा तथा बैंक प्रणाली से संबद्ध कारणः—मुद्रा तथा बैंक प्रणाली पर प्रकाश डाला चुका है। मुद्रा की राशि पर

इसका बहुत ही अधिक प्रभाव है। द्विधातवीय मुद्राविधि में मुद्रा की राशि स्थिर नहीं रहती। निकृष्ट धातु की मुद्रा देश में रह जाती है और उत्कृष्ट धातु की मुद्रा विदेश में चली जाती है। बैंकों द्वारा काम करनेवाले देशों में मुद्रा की संपूर्ण राशि व्यवहार में आ जाती है और अपने से कई गुना अधिक व्यवहार सफलता से करती है। इंग्लैंड में बैंकों के द्वारा ही संपूर्ण कार्य होता है। यदि यह न हो तो जरूरत के अनुसार इंग्लैंड कभी मुद्राएँ न बना सके।

चौथा परिच्छेद

मुद्रा का मूल्य

१—मुद्रा के मूल्य-संबंधी सिद्धांत

मुद्रा सिद्धांत में सबसे अधिक कठिन विषय मुद्रा के मूल्य का निर्धारित करना है। 'अधिकता मूल्य की कमी का और अल्पता मूल्य की अधिकता का कारण है' इसी सूत्र को मुद्रा के मूल्य के प्रश्न की मीमांसा करने के काम में लाया जाता है। अर्थात् मुद्रा का मूल्य मुद्रा की राशि से संबद्ध है। जितनी अधिक मुद्रा की राशि होती है, उतना ही मुद्रा का मूल्य कम होता है और अन्य पदार्थों की कीमतें बढ़ जाती हैं। इसी प्रकार मुद्रा की राशि के घटने से मुद्रा का मूल्य बढ़ जाता है

और अन्य पदार्थों की कीमतें कम हो जाती हैं। वस्तुतः यह विचार पूर्ण सत्य नहीं है। विषय के कठिन होने से इस पर अब गंभीर विचार करने का यत्न किया जायगा।

मुद्रा की क्रयशक्ति का तात्पर्य्य किसी पदार्थ की उस राशि से है जो कि मुद्रा किसी एक विशेष समय में खरीदती है। पदार्थों का पारस्परिक विनिमय होता है। गेहूँ का चावल से और चावल का दाल से कीमतों के खयाल से एक प्रकार का संबंध है। मुद्रा के मूल्य का प्रश्न पदार्थ मात्र से जुड़ा हुआ है। जब हम यह कहते हैं कि मुद्रा का क्या मूल्य है, उस समय इस प्रश्न से हमारा यह तात्पर्य्य होता है कि किसी पदार्थ का एक या दो रुपया ही दाम क्यों है? पाँच या दस रुपया क्यों नहीं है? परंतु साथ ही यह भी स्मरण रखना चाहिए कि उल्लिखित प्रश्न "किसी पदार्थ का दाम एक रुपया क्यों है? और दूसरे का दो रुपया दाम क्यों है?" या "क्यों किसी पदार्थ का दाम एक रुपया और दूसरे का दो रुपया है?" इत्यादि प्रश्नों से सर्वथा भिन्न है। मुद्रा के मूल्य की समस्या मौद्रिक धातु तथा अन्य पदार्थों के पारस्परिक महत्व के साथ जुड़ी हुई है। जब मुद्रा के मूल्य पर विचार किया जाता है, उस समय मुद्रा को एक पदार्थ मानकर उसका अन्य पदार्थों के साथ संबंध ढूँढ़ा जाता है।

मुद्रा के मूल्य की पेचीदगी इसलिये बहुत ही अधिक बढ़ जाती है कि उसमें अनेक तत्वों का प्रभाव विद्यमान है। पहली

बात तो यह है कि मुद्रा संबंधी धातु मुद्रा के काम के सदृश ही आभूषणों आदि के काम में भी आती है। मौद्रिक धातु की कीमत तथा मुद्रा की कीमत में प्रति दिन संतुलन होता रहता रहता है। दूसरी बात यह है कि मुद्रा भी एक पदार्थ है। उसका अन्य पदार्थों से विनिमय होता है। इसलिये पारस्परिक महत्व भी मुद्रा के मूल्य में एक मुख्य कारण है। यहीं पर बस नहीं। साख तथा पदार्थ-विनिमय भी मुद्रा के मूल्य को प्रभावित करता है। इस हालत में यह आवश्यक प्रतीत होता है कि मुद्रा के मूल्य पर विचार करते समय एक एक तत्व के प्रभाव को ही देखा जाय। विचार की सुगमता के लिये कल्पना करो कि (१) मुद्रा विनिमय के काम के सिवा और किसी अर्थ की नहीं। (२) समाज में पदार्थ-विनिमय तथा साख का कुछ भी प्रयोग नहीं। प्रत्येक पदार्थ का विनिमय मुद्रा के द्वारा ही होता है। इन शर्तों के होते हुए मुद्रा के मूल्य का आधार क्या है, अब इसी पर विचार किया जायगा।

मुद्रा का मूल्य एक प्रकार की सामाजिक घटना है। किसी दैवी पुरुष ने अपनी दिव्य शक्ति से मुद्रा में क्रय-शक्ति नहीं पैदा की है। व्यक्ति पृथक् पृथक् तौर पर सोने तथा चाँदी का दाम निर्धारित करते हैं और उसका अंतिम दाम कुछ और ही निकलता है। मुद्रा के मूल्य का एक कारण उसकी समाज-सेवा के साथ जुड़ा हुआ है। मुद्रा जिस हद तक समाज की सेवा करती है, उसी हद तक

उसका मूल्य तथा महत्व है। सारांश यह है कि मुद्रा की उपयोगिता मुद्रा के मूल्य का एक प्रधान कारण है।

यदि कोई समाज विनिमय के रहस्य से अपरिचित हो और उसमें भिन्न भिन्न पदार्थों की सत्ता एक लाख तक पहुँच जाती हो और उसमें प्रत्येक मनुष्य उसी पदार्थ का उपभोग करता हो जो उसके श्रम के द्वारा पैदा हो और उपभोग करने के बाद एक लाख पदार्थों में से पचास हजार पदार्थ निरर्थक पड़े रहते हों, तो यह स्वाभाविक ही है कि निरर्थक पड़े हुए पदार्थों का उस समाज में कुछ भी मूल्य न होगा। ऐसे समाज में जब बार्टर या पदार्थ-विनिमय शुरू हो और प्रत्येक मनुष्य एक दूसरे की मेहनत के पदार्थों को बार्टर द्वारा प्राप्त करे तो यदि निरर्थक पड़े हुए पदार्थों के कुछ भाग का भी मूल्य हो जाय तो इसमें आश्चर्य्य करना वृथा है। कल्पना करो कि बार्टर द्वारा लाभ उठानेवाले समाज में सहसा मुद्रा का प्रयोग प्रारंभ हो जाता है। मुद्रा में सबसे बड़ा गुण यह है कि उसको समाज का प्रत्येक व्यक्ति स्वीकृत करता है और भविष्य को सामने रखकर उसको जमा करने का भी यत्न करता है। इस दशा में निरर्थक पड़े हुए समस्त पदार्थों का कुछ मूल्य हो जायगा। क्योंकि भविष्य की जरूरतों को सामने रखकर समाज उनको मूल्यवान् समझने लगेगा। सारांश यह है कि मुद्रा के द्वारा अन्य पदार्थों की उपयोगिता बढ़ जाती है।

यदि विनिमय का माध्यम एक के स्थान पर अनेक व्यव-

हारों में काम आवे तो उसकी उत्पत्ति का व्यय कुछ ही समय के बाद लाभ में से पूरा किया जा सके और उसकी उत्पत्ति के व्यय को शून्य कहा जा सके। सारांश, यह है कि मुद्रा की उत्पत्ति का अधिक से अधिक मूल्य यही है कि उसकी उत्पत्ति का खर्च कुछ ही समय के बाद उसके लाभ से पूरा किया जा सकता है, बशर्ते कि उसका प्रयोग चिरकाल तक रहे। इस सिद्धांत को समझने के लिये कल्पना करो कि बार्टर द्वारा विनिमय करने में समाज को अ उपयोगिता प्राप्त होती है। मुद्रा की राशि के लिये य और उसके उत्पत्ति-व्यय के लिये व को मानते हुए यह कहा जा सकता है कि यदि मुद्रा एक ही बार व्यवहार की साधक हो और फिर नष्ट हो जाय तो समाज को अ—व उपयोगिता प्राप्त हो। यदि मुद्रा दो बार तक व्यवहार की साधन हो तो समाज की उपयोगिता अ—व/२ हुई। तीन बार मुद्रा के विनिमय का माध्यम रहते हुए समाज की उपयोगिता अ—व/३ और अनंत काल तक विनिमय का माध्यम रहते हुए अ–व/∞ होती है। सोना तथा चाँदी अनंत काल तक मूल्यवान् रहेगा, यही कारण है कि व/∞ शून्य के बराबर हुआ। इस प्रकार स्पष्ट है कि समाज के लिये मुद्रा की उपयोगिता अ है जब कि अन्य पदार्थों के लिये इससे कुछ न कुछ कम; क्योंकि वे नष्ट हो जाते हैं। और जो पदार्थ नष्ट नहीं भी होते, वे व्यवहार के उत्तम साधक न होने से समाज के लिये सोने के सदृश उपयोगी नहीं हैं। अधिकतम

उपयोगिता ही मुद्रा के मूल्य की अधिकता का मुख्य कारण है।

प्रायः यह कहा जाता है कि मुद्रा की धातु कितनी ही कम क्यों न हो, समाज का काम सुगमता से चल सकता है। अधिक मुद्रा से मँहगी होती है। निस्संदेह यह सिद्धांत किसी अंश तक सत्य है। यदि मुद्रा एकमात्र कागज की ही होती तब तो बात दूसरी थी। परंतु जब मुद्रा धातु की है तब इसकी माँग तथा विभाग सारे संसार तक विस्तृत है। संपूर्ण संसार में इन धातुओं की जरूरत है। मुद्रा की धातु के आवश्यकता से कम होने पर व्यापार व्यवसाय-संबंधी कठिनाइयाँ बहुत ही अधिक बढ़ सकती हैं। इस हालत में यह कहना कि 'मुद्रा की धातु कितनी ही कम क्यों न हो, समाज का काम सुगमता से चल सकता है" सत्य नहीं है।

उल्लिखित शर्तें प्रायः किसी समाज में विद्यमान नहीं हैं। संसार में एक भी राष्ट्र या जाति ऐसी नहीं है जिसमें मौद्रिक धातु एक ही बार व्यवहार का साधन होकर नष्ट हो जाय। असभ्य से असभ्य समाज में भी किसी न किसी अंश तक साख मौजूद होती है। एक मात्र बार्टर से काम चलानेवाला समाज भी कल्पित ही है। असल बात यह है कि मुद्रा में प्रयुक्त होनेवाली धातु भी एक प्रकार का पदार्थ ही है। जो नियम अन्य पदार्थों के मूल्य में काम करते हैं, वही नियम इसमें भी लगते हैं। ज्यों ज्यों मुद्रा की धातु बढ़ती

जाती है, त्यों त्यों उसकी उपयोगिता कम होती जाती है। अपेक्षा से अधिक खोदी गई भौमिक धातु उसकी सीमांतिक उपयोगिता को बहुत ही कम कर देती है। लाचार होकर सोने की खान खोदनेवालों को सोने का खोदना कम करना पड़ता है। क्योंकि जिस कीमत पर सोने का खोदना लाभदायक होता है, वह कीमत बाजार में उनको नहीं मिलती। परंतु यदि सोने की धातु जरूरत से कम हो और लोगों को स्वर्ण मुद्रा की कमी के कारण बार्टर की कठिनाइयाँ झेलने के लिये तैयार होना पड़े तो सोने की खुदाई समाज के लिये उपयोगी होगी। उसकी जो मुद्राएँ बनती हैं, वह समाज की कठिनाइयों को किसी हद तक कम करती हैं। उनकी उपयोगिता भी ऐसी दशा में बहुत ही अधिक होती है।

प्रायः यह देखने में आया है कि जो बात समाज एक बार छोड़ चुका है, फिर उसी ढंग पर उसको ग्रहण नहीं करता। ऊपर लिखा जा चुका है कि सोने की खुदाई तभी उपयोगी होती है जब समाज को बार्टर की कठिनाइयाँ झेलने के लिये तैयार होना पड़े। वास्तविक बात यह है कि मुद्रा की कमी से परेशान होकर समाज बार्टर की ओर न जाकर साख को अपना सहारा बना लेता है। इसके विपरीत जब समाज में मुद्रा की राशि अधिक हो जाती है, तब भी उसका परित्याग नहीं किया जाता। वह समाज में व्यवहार का काम करती ही रहती है। बिना नुकसान के मुद्रा की अधिकता को कम करना

कठिन हो जाता है। मुद्रा की अधिकता से अनेक अनुपयोगी पादर्थों में भी उपयोगिता आ जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि मुद्रा की अधिकता को कम करने से अनेक उपयोगी पदार्थ अनुपयोगी बन जाते हैं। यही कारण है कि प्रायः अधिक मुद्रा निकाली जाकर फिर घटाई नहीं जाती; क्योंकि उससे समाज को लाभ के साथ नुकसान भी ज्यादा पहुँचता है।

प्रायः यह देखने में आया है कि जिस अनुपात में पदार्थों की राशि घटे या बढ़े, उसी अनुपात में उनकी उपयोगिता बढ़ती या घटती नहीं है। मुद्रा के विषय में समानुपात में उपयोगिता का घटना बढ़ना तभी संभव है जब मुद्रा से विनिमय होनेवाले पदार्थों की राशि स्थिर हो और मुद्रा की राशि घटे बढ़े। परंतु कार्य्य-रूप में यह बात नहीं है। मुद्रा के सदृश ही पदार्थों की घटती बढ़ती रहती है; अतः मुद्रा की राशि जिस अनुपात में घटे बढ़े, उसी अनुपात में उसकी उपयोगिता नहीं बढ़ती घटती।

२—मुद्रा की माँग तथा उपलब्धि-सिद्धांत

मुद्रा के उत्पन्न करने में यदि धन व्यय होता हो तो समाज उसका प्रयोग वहीं तक करेगा जहाँ तक वह लाभदायक सिद्ध हो। यदि सोने की उत्पत्ति में बहुत ही अधिक खर्च हो और चाँदी की उत्पत्ति में यह बात न हो और साथ ही सोना समाज के लिये लाभदायक न हो तो लोग सोने के स्थान पर चाँदी

को ही काम में लाने लगेंगे। सारांश यह है कि मुद्रा की धातु का मूल्य विनिमय के अन्य माध्यमों की धातुओं के साथ जुड़ा हुआ है। समाज किस धातु को विनिमय का उत्तम माध्यम समझेगा, यह उसकी आपेक्षिक उपयोगिता पर निर्भर है। इसको समझने के लिये कल्पना करो कि पाँच मनुष्य गेहूँ बेचते हैं और पाँच मनुष्य गेहूँ के बदले मुद्रा देने के लिये तैयार हैं। क्रय-विक्रय का कार्य्यक्रम इस प्रकार हुआः—

क	चार सेर गेहूँ	१) रुपए में	देने के	लिये तैयार है
ख	" "	१⌐) रुपए में	"	"
ग	" "	१=) रुपए में	"	"
घ	" "	१≡) रुपए में	"	"
ङ	" "	१।) रुपए में	"	"

प्रत्येक व्यक्ति अपने अपने चार सेर गेहूँ का दाम रुपए में अनुमान करता है। किसी को १) रुपया तो किसी को १।) अपने गेहूँ का उचित मूल्य मालूम पड़ता है। असल दाम क्या देना चाहिए, यह किसी को मालूम नहीं है। यही कारण है कि चार सेर गेहूँ के लिये सब भिन्न भिन्न धन माँगते हैं। इसको ठीक ढंग पर समझने के लिये इसी दृष्टांत को और आगे तक बढ़ाया जा सकता हैः—

च	४ सेर गेहूँ लेने के लिये	१) रुपया	देने को तैयार है
छ	" "	१⌐)	" "
ज	" "	१=)	" "

झ	"	"	१≡)	"	"
ञ	"	"	१।)	"	"

प्रत्येक क्रेता गेहूँ सस्ता खरीदना चाहता है और इसी लिये अधिक से अधिक कीमत वह क्या देगा, यह पता नहीं देता। जो क्रेता १।) देने के लिये तैयार है, वह कुछ समय तक ठहरकर यह देखेगा कि कहीं कोई इससे कम दाम में तो चार सेर गेहूँ नहीं खरीदता। क्रयविक्रय प्रारंभ होने के समय बहुत काम देने की बात कही जाती है। शुरू शुरू में चार सेर गेहूँ के लिये सभी लोग १) रुपए से कम बोली बोलेंगे। दाम बढ़ते बढ़ते जब १) रुपए पर पहुँचेगा तब क विक्रेता दिल ही दिल में चार सेर गेहूँ देने के लिये तैयार हो जायगा; परंतु वह भी कुछ समय तक अधिक दाम पाने की आशा से रुकेगा। दृष्टांत स्वरूपः—

जब कीमत १) होगी तब पाँचों क्रेता गेहूँ खरीदने के लिये तैयार हो जायँगे और बेचनेवाला केवल एक ही मिलेगा। क्रेताओं की पारस्परिक स्पर्धा से गेहूँ की कीमत चढ़ेगी। १-) कीमत पर चार व्यक्ति खरीदने के लिये और केवल दो व्यक्ति बेचने के लिये तैयार होंगे। १=) पर तीन व्यक्ति खरीदने के लिये और तीन ही व्यक्ति बेचने के लिये राजी हो जायँगे। १≡) पर दो क्रेता और चार विक्रेता और १।) पर एक क्रेता और पाँच विक्रेता क्रय-विक्रय के लिये उत्सुक होंगे। स्वाभाविक है कि १=) पर ही गेहूँ का क्रय-

विक्रय हो। परंतु यदि गेहूँ की उपलब्धि बहुत ही अधिक हो तो गेहूँ की सीमांतिक उपयोगिता कम हो जायगी और १=) पर गेहूँ की राशि इतनी अधिक हो जायगी कि क्रेता लोग उसका कम दाम देना शुरू कर देंगे। यदि गेहूँ की राशि कम हुई तो इसके विपरीत घटना उपस्थित होगी।

गेहूँ के मूल्य के सदृश ही मुद्रा के मूल्य का भी नियम है। मुद्रा की माँग तथा उपलब्धि पर ही मुद्रा का मूल्य निर्भर है। पदार्थों की संपूर्ण राशि के लिये जितनी मुद्रा की माँग है, यदि मुद्रा उससे अधिक हो तो उसका मूल्य कम होगा; और यदि कम हो तो उसका मूल्य अधिक होगा। इसको समझने के लिये कल्पना करो कि अनेक विनिमयों के बीच में भी पदार्थों की राशि ही एक सदृश रहती है, परंतु मुद्रा की राशि बदलती रहती है। इसका परिणाम यह होगा कि मुद्रा का मूल्य मुद्रा की राशि की वृद्धि या ह्रास के विपरीत अनुपात में बदलेगा। अर्थात् यदि मुद्रा की राशि पूर्वापेक्षया बढ़ जाय तो उसका मूल्य कम हो जायगा और यदि वह घट जाय तो उसका मूल्य बढ़ जायगा।

फिशर प्रतिपादित मुद्रा का मूल्य संबंधी सिद्धांत सर्वथा सम हो यदि मौद्रिक धातु मुद्रा के अतिरिक्त अन्य किसी काम में न आती हो। मुद्रा की राशि तथा पदार्थ की मात्रा का पूर्व निर्दिष्ट समीकरण भी इसी दशा में सच हो सकता है। परंतु वस्तुतः यह बात नहीं है। मौद्रिक धातुएँ एक अंश

में मुद्रा हैं तो दूसरे अंश में इंद्रियों को संतुष्ट करनेवाले पदार्थों के तुल्य हैं। इसका परिणाम यह होता है कि उनकी उपयोगिता का आधार विस्तृत हो जाता है। यदि सोना दुगुना भी हो जाय तो भी उसका मूल्य आधा नहीं रहता। क्योंकि सोने का मूल्य एक मात्र पदार्थों की राशि पर ही निर्भर नहीं है, अपितु उसमें अपने भी ऐसे गुण मौजूद हैं जिनसे मात्रा के दुगुने होने पर भी उसकी उपयोगिता आधी नहीं रह जाती। अनेक मनुष्य उसके दाम के गिरते ही उसको लेने के लिये तैयार हो जाते हैं। सारांश यह है कि फिशर का सिद्धांत उसी मुद्रा के लिये सत्य है जिसका स्वतः कोई मूल्य नहीं है, अपितु जो परतः मूल्यवान् है। दृष्टांतस्वरूप अपरिवर्तनशील पत्रमुद्रा को ही लीजिए। इसका मूल्य एक मात्र तभी तक है जब तक कि इसकी राशि जनता की माँग को पददलित करके अधिक नहीं होती। जहाँ इसकी राशि जरूरत से ज्यादा बढ़ी, इसका दाम कम हो जाता है और जर्मन मार्क्स की तरह नष्ट होने को सीमा पर पहुँच जाता है।

पाँचवाँ परिच्छेद

मूल्य सूची (Index Numbers)

१—मूल्य सूची का उद्देश्य

मुद्रा की क्रयशक्ति की भिन्नता को पदार्थों के द्वारा मापने के लिये चिरकाल से यत्न हो रहा है। क्रयशक्ति की भिन्नता के क्या कारण हैं? मुद्रा अधिक है अथवा पदार्थ अधिक हैं, उपलब्धि ज्यादा है या माँग कम है, इत्यादि प्रश्नों पर मूल्य सूची (Iudex nurmbers) बनाते समय ध्यान नहीं दिया गया। मूल्य संबंधी परिवर्तन किस प्रकार मापा जा सकता है, इसी पर मूल्य सूची तैयार करनेवालों का ध्यान केन्द्रित था। बहुत से लेखकों का विचार है कि मूल्य सूची से कुछ भी अर्थ सिद्ध नहीं हो सकता। यदि सभी मापक क्षण क्षण में बदलते रहें तो कौन सी चीज़ किससे मापी जाय? सत्य है। परन्तु यदि परिवर्त्तन के नियमों का ज्ञान हो जाय तो स्थिरमापक के सदृश ही परिवर्त्तनशील मापक से भी काम निकाला जा सकता है।

मुद्रा की क्रय-शक्ति-भिन्नता के मापने के कई एक उद्देश्य हैं। प्रथम उद्देश्य तो यह है कि चिरकालीन या प्रलम्बकालीन लेन देन या व्यवहार का काम मूल्य सूची के सहारे बहुत उत्तम विधि पर हो सकता है। मुद्रा के मूल्य की अस्थिरता से बहुत से कष्ट बढ़ गए हैं। यदि मूल्य सूची के द्वारा भिन्न भिन्न कालों

के लिये मुद्रा के मूल्य के परिवर्त्तनों को माप लिया जाय तो एक व्यक्ति के नुकसान पर दूसरे व्यक्ति का लाभ उठाना किसी हद तक रुक जाय। द्वितीय उद्देश्य व्यावहारिक तथा ऐतिहासिक है। भिन्न भिन्न समयों तथा स्थानों में भृत्ति तथा आय किस प्रकार भिन्न होती रही, इसका ज्ञान मूल्य सूची बिना नहीं हो सकता। जिन पूँजीपतियों का धन सैकड़ों राष्ट्रों में लगा हुआ है, उनको एक तोले सोने के मूल्य में क्या क्या परिवर्त्तन हुए, इसकी विशेष चिन्ता रहती है; क्योंकि उनकी आय का आधार यही परिवर्त्तन है। इस व्यावहारिक उद्देश्य के सदृश ही ऐतिहासिक उद्देश्य भी भूलने योग्य नहीं है। भिन्न भिन्न समयों में किसी राष्ट्र की आर्थिक सभ्यता क्या थी और वह किस प्रकार बढ़ी या घटी, इसका ज्ञान मूल्य सूची के बिना कठिन है*। महाशय एजवर्थ ने इन्हीं उद्देश्यों को इस प्रकार प्रकट किया है†—

(क) चिरकालीन या प्रलम्बकालीन लेनदेन, मालगुजारी तथा लगान के जानने के लिये मूल्य सूची नितांत आवश्यक है।

---

* किंले रचित मनी। दि सिटिजन्स लाइब्रेरी सीरीज में प्रकाशित। (१६१६) पृ. २२४–२२६.

† जे. एल. लारैन्स लघलिन रचित दि प्रिन्सिपल्स आव् मनी। (१६०३) पृ. १६४–१६५.

(ख) भिन्न भिन्न राष्ट्रों तथा व्यक्तियों की आमदनी का घटना बढ़ना जानने के लिये मूल्य सूची की जरूरत पड़ती है।

(ग) पुराने जमाने से अब तक मुद्रा के मूल्य में कैसे कैसे परिवर्त्तन हुए, इसको जानने के लिये मूल्य सूची का सहारा लिया जाता है।

(घ) मुद्रा संशोधन तथा व्यापार व्यवसाय संबंधी हानि को दूर करने के लिये भी मूल्य सूची का प्रयोग किया जाता है।

इन्हीं सब ज़रूरतों को देखकर विद्वानों ने मूल्य सूची के तैयार करने में बहुत तकलीफें सहीं, परंतु सफलता पूरे तौर पर न मिली। भिन्न भिन्न पदार्थों के मूल्यों की मध्यमा लेकर ही मूल्य सूची तैयार की जाती है। यदि मध्यमा एक ही होती तब तो मुद्रा की क्रय-शक्ति-भिन्नता-सम्बन्धी उलझन किसी हद तक सुलझ जाती। परंतु यह बात नहीं है। जितने विद्वान् हैं उतने ही तरीके मध्यमा निकालने के हैं।

२—मध्यमा

व्यापारीय तथा व्यावसायिक संस्थाओं के द्वारा भिन्न भिन्न पदार्थों की कीमतें प्रकाशित की जाती हैं। बहुधा यह भी हो जाता है कि भिन्न भिन्न स्थानों में एक ही पदार्थ की भिन्न भिन्न कीमतें प्रकाशित होती हैं। इस हालत में मूल्य सूची तैयार

करने में किस स्थान की कीमत को प्रामाणिक गिना जाय? यदि किसी एक स्थान की कीमत को प्रामाणिक मान भी लिया जाय तो कीमतों की मध्यमा किस तरीके से निकाली जाय? यदि मध्यमा का भी एक तरीका सर्वमान्य हो जाय तो क्या सभी पदार्थों को एक सदृश महत्व दिया जाय? इन प्रश्नों की उलझन मिटाना सुगम हो जाता यदि लेखकों में भयंकर मत-भेद न होता। दृष्टान्त स्वरूप मध्यमा को ही लीजिए। बहुत से प्रामाणिक अर्थशास्त्रज्ञ मध्यमा को माया-जाल समझते हैं। उनकी समझ में मध्यमा से कोई अर्थ सिद्ध नहीं हो सकता। महाशय एफ. डी. लांग का मत है कि कपड़ों तथा जहाजों की कीमतों की मध्यमा निकालना बेहूदापन है। महाशय मुल्हाल* मूल्यसूची के परिणामों को हेत्वाभास समझते हैं। प्रोफेसर तथा आय व्ययसचिव एन. जी. पीयर्सन के विचार में तो कीमतों की गति मापने में जो जो यत्न किए गए, वे सबके सब वृथा हैं। उन पर कुछ भी विश्वास नहीं किया जा सकता†। इन लेखकों की सम्मति में भिन्न भिन्न पदार्थों की कीमतों की मध्यमा कल्पित वस्तु है जिसका संसार में कहीं अस्तित्व नहीं है।

---

* मुल्हाल लिखित हिस्टरी आव् प्राइसेज़। (१८८५) पृ. ७.

† इकानामिक जर्नल (मार्च, १८९६) पृ. १२७–१३१। इसी का एजवर्थ द्वारा उत्तर इकानामिक जर्नल (मार्च १८९६) पृ. १३२-१४२.

यदि गंभीर तौर पर विचार किया जाय तो मालूम पड़ेगा कि उल्लिखित लेखक कुछ कुछ अत्युक्ति कर गए। मध्यमा ऐसी कल्पित वस्तु नहीं जैसा कि कहा जाता है। यदि पदार्थों तथा इनकी कीमतों का कुछ भी अस्तित्व है तो मध्यमा का भी अस्तित्व है। मध्यमा भिन्न भिन्न पदार्थों का निचोड़ है। गुलाब तथा गुलाब के इतर में जो भेद है, वही भेद पदार्थों की कीमतों तथा उनकी मध्यमा में है। इतर कई तरीकों से निकाला जा सकता है और तरीकों के भेद के अनुसार ही इतर भी भिन्न भिन्न हो जाता है। किसी में सुगंध तीक्ष्ण तथा किसी में मधुर होती है। यही बात मध्यमा के साथ है। भिन्न भिन्न तरीकों से कीमतों की भिन्न भिन्न मध्यमा निकलती है। मध्यमा तब तक कल्पित नहीं हो सकती जब तक कि वह कीमतें कल्पित न हो जायँ जिन पर उसका आधार है। इसमें संदेह भी नहीं कि मध्यमा परिवर्त्तन के सिवा और किसी बात की सूचक नहीं। परिवर्त्तन के कारणों पर इसके द्वारा कुछ भी प्रकाश नहीं डाला जा सकता। भिन्न भिन्न पदार्थों का क्या उत्पत्तिव्यय है और उनकी कीमत क्या होनी चाहिए, आदि बातों से इसका कुछ भी सम्बन्ध नहीं *।

मध्यमा नानाविध हैं। इनमें आंकिक (Arithmetical) ज्यामितिक (Geometrical) तथा संवादिक (Harmoni-

---

* जे. एल. लारेन्स लघलिन रचित 'दि प्रिन्सिपल्स आव् मनी' (१९०३) पृ. १४३–१४६।

cal) मध्यमा मुख्य हैं। तीनों के ही सरल (Simple) तथा विषम (Weighted) दो भेद हैं। सरल आंकिक मध्यमा निकालने के लिये पदार्थों के योग को उनकी संख्या से भाग देना पड़ता है। २ तथा ८ की आंकिक मध्यमा $\frac{२+८}{२}=\frac{१०}{२}=५$ हुई। ज्यामितीय मध्यमा जानने के लिये पदार्थों के गुणन का उतना ही मूल लेना पड़ता है जितने कि पदार्थ हों। २ तथा ८ की ज्यामितीय मध्यमा $\sqrt{२\times८}=४$ चार है। संवादिक मध्यमा के लिये पदार्थों को हर के स्थान पर और एक संख्या को लव के स्थान पर रखकर योग किया जाता है और उसके पदार्थों की संख्या को हर के स्थान पर और एक को लव स्थान पर रखकर विभक्त कर दिया जाता है। २ तथा ८ की संवादिक मध्यमा $\frac{१}{\frac{\frac{१}{२}+\frac{१}{८}}{२}}=३\frac{१}{५}$ हुई। तीनों की ही विषम मध्यमा का प्रश्न तब उठता है जब कि ऊँचाई, लंबाई, चौड़ाई, गहराई आदि की भी मध्यमा लेनी जरूरी होती है। दृष्टांतस्वरूप दो पेड़ों को लो। उनमें एक छोटा तथा दूसरा बड़ा है। बड़ा पेड़ ८ गज ऊँचा और छोटा पेड़ २ गज ऊँचा है। २ तथा ८ की सरल मध्यमा ५ है। परंतु यदि ८ गज ऊँचे १० पेड़ और २ गज ऊँचे २० पेड़ हों तो उनकी मध्यमा सरल के स्थान पर विषम होगी। क्योंकि उनकी मध्यमा में वृक्षों की संख्या के सदृश ही उनकी ऊँचाई का भी ख़याल करना आवश्यक है। दोनों एक सदृश ही महत्वपूर्ण हैं।

आंकिक विषम मध्यमा निकालने के लिये ऊँचाई को पदार्थों की संख्या से गुणा करके उनका योग किया जाता है और उसको पदार्थों की संख्या से भाग दे दिया जाता है। ८ गज ऊँचे १० पेड़ों तथा २ गज ऊँचे २० पेड़ों की विषम आंकिक मध्यमा $\frac{२० \times २ + १० \times ८}{२० + १०} = \frac{४० + ८०}{३०} = \frac{१२०}{३०}$ = ४ चार हुई।

इसी की ज्यामितिक विषम मध्यमा $३० — \frac{२० + १०}{२^{२०}.८^{१०}}$ और संवादिक विषम मध्यमा $\frac{१}{\frac{२०(\frac{१}{२}) + १०(\frac{१}{८})}{३०}} = २\frac{२}{३}$ दो पूर्णांक दो लव तीन हुई।

मध्यमा ठीक है या ग़लत इसके जानने का सबसे सुगम तरीका यह है कि जिन पदार्थों की मध्यमा निकाली गई है, यदि उन पदार्थों के स्थान पर मध्यमा को रख दिया जाय और उसको पदार्थों की संख्या से भाग दिया जाय तो शेष मध्यमा ही बचेगी। कल्पना करो क. ख. ग. पदार्थ की मध्यमा अ $\left\{ \frac{क + ख + ग}{३} = अ \right\}$ है तो इसकी परीक्षा करने के लिये पदार्थों के स्थान पर इसको रख दो और उसको पदार्थों की संख्या से भाग दो तो अ ही $\left\{ \frac{अ + अ + अ}{३} = अ \right\}$ प्राप्त होगा। यही कसौटी ज्यामितिक में $\left\{ \sqrt[३]{क \times ख \times ग} = अ, \sqrt[३]{अ \times अ \times अ} = अ \right\}$ तथा संवादिक में $\left\{ \frac{१}{\frac{\frac{१}{क} + \frac{१}{ख} + \frac{१}{ग}}{३}} = अ, \right.$

$\dfrac{1}{\dfrac{\frac{1}{अ}+\frac{1}{अ}+\frac{1}{अ}}{3}}$ = अ } काम में लाई जा सकती है।

इसी कसौटी को जाँचने से मालूम पड़ता है कि मध्यमा के अनेक सूत्र हैं। दृष्टांत-स्वरूप मध्यमा का

$\dfrac{(अ + अ^{2} + क\ अ^{3})\ (ब + \frac{1}{अब})}{स + \sqrt[3]{बस}}$ यह भी एक सूत्र है। इसके

द्वारा यदि अ.ब.स. संख्याओं की मध्यमा क्ष. प्राप्त हो तो इसकी सत्यता जाँचने के लिये $\dfrac{(क्ष + क्ष^{2} + क\ क्ष^{3})\ (क्ष + \frac{1}{क्ष^{2}})}{क्ष + \sqrt[3]{क्ष^{2}}}$ रूप में क्ष को रखने से परिणाम क्ष ही प्राप्त होगा।*

३—मध्यमा का प्रयोग

आंकिक, ज्यामितिक तथा संवादिक मध्यमा में कौन सी मध्यमा उपयुक्त तथा त्रुटिरहित है, इस पर विद्वानों ने बहुत विचार किया। इस पर प्रायः सभी विद्वान् सहमत हैं कि एक ही मध्यमा से सब स्थानों की जरूरतें पूरी नहीं की जा सकतीं। साधारणतया आंकिक मध्यमा से ही कीमतों की सूची तैयार की जाती है। परंतु यदि बहुत पदार्थों की कीमतें दिन पर दिन कम हो रही हों और कुछ एक इनेगिने पदार्थों की कीमतें

* इर्विङ्ग फिशर लिखित दी पर्चेसिंग पावर आफ् मनी (१९११)। परिशिष्ट पृ० ३४९–३५२.

चढ़ती हों तो ऐसे अवसर पर मूल्य सूची तैयार करने में संवादिक मध्यमा से ही काम लेना चाहिए।

प्रोफेसर जेवन्स ज्यामितिक मध्यमा के अन्धभक्त थे। उन्होंने अपनी मूल्यसूची में इसी मध्यमा से गणना की। उनका कथन है कि १८४५–१८५० से अब तक कोको की कीमतें दुगुनी और लौंग की कीमतें आधी हो गईं। इनकी कीमतों की यदि आंकिक मध्यमा ली जाय तो वह $\frac{२००+५०}{२}$ = १२५ होती है। अर्थात् दोनों पदार्थों की कीमतें पच्चीस सैंकड़ा चढ़ीं जो कि असत्य है। यदि इन्हीं पदार्थों की ज्यामितिक मध्यमा निकाली जाय तो वह सौ होती है। इस प्रकार स्पष्ट है कि ज्यामितिक मध्यमा ही मूल्यसूची में प्रामाणिक मध्यमा समझी जानी चाहिए*। महाशय पैडन ने जेवन्स के इस विचार से अपना मतभेद प्रकट किया। उनका कथन है कि यदि एक महाशय दो स्थानों में अपने सौ सौ रुपए लगावें और एक स्थान से यदि उनको १०० रुपये का लाभ हो और दूसरे स्थान से ५० रुपये का घाटा, तो प्रोफेसर जेवन्स की ज्यामितिक मध्यमा के अनुसार उनको कुछ भी लाभ नहीं हुआ। परंतु यह बात नहीं है। बही-खाते के अनुसार उनका शुद्ध लाभ पचास रुपया होता है।†

---

*जेवन्स लिखित इंवैस्टिगेशन्ज़ इन् करेन्सी एण्ड फाइनैन्स। पृ० २१

† जर्नल आव् पोलिटिकल इकानमी। मार्च १९००। पृ० ७३.७४.

कुछ ही दिनों का बात है कि महाशय वाल्श ने जेवन्स की ज्यामितिक मध्यमा में नया जीवन फूँका। मध्यमा के रहस्य को प्रकट करते हुए महाशय वाल्श लिखते हैं कि 'जब अ, ब के सदृश बनता है तो उसको मध्यमा में से गुजरना पड़ता है। शुरू शुरू में अ को मध्यमा तक गिरना पड़ता है और फिर मध्यमा से और नीचे की ओर उसको झुकना पड़ता है। इसी प्रकार जब ब, अ के सदृश बनता है तब उसको मध्यमा तक चढ़ना पड़ता है और फिर मध्यमा से अ तक उसको पहुँचना पड़ता है। यदि मध्यमा आंकिक हो तो अ तथा ब की एक दूसरे तक गति संवादिक और उनकी एक दूसरे से पृथकता आंकिक होती है। परंतु यदि मध्यमा ज्यामितिक हो तो अ तथा ब की एक दूसरे के पास गति तथा पृथकता ज्यामितिक ही होती है। वाल्श के मत में मूल्य की समस्या दो प्रकार की है (१) स्वर्ण के आधार पर पदार्थों की कीमतों के चढ़ाव उतार को जानना। (२) पदार्थों के आधार पर स्वर्ण की कीमतों के चढ़ाव उतार को जानना। यदि पहले में आंकिक मध्यमा का तो दूसरे में संवादिक मध्यमा का और यदि दूसरे में आंकिक मध्यमा का तो पहले में संवादिक मध्यमा का प्रयोग नितांत आवश्यक है। एक मात्र ज्यामितिक मध्यमा ही ऐसी है जो कि दोनों के लिये ही एक सदृश उपयुक्त है।*

---

* सी. एम. वाल्श रचित, दि मेजरमेन्ट आव् जनरल एक्सचेंज वैल्यू परिच्छेद ८। संस्करण (१९०१)।

जेवन्स तथा वाल्श के विरुद्ध लैसपीरी ने आंकिक मध्यमा का ही पक्ष लिया। उसका कथन है कि 'ज्यामितिक मध्यमा का मुद्रा की क्रयशक्ति के अधःपात या ऊर्ध्वगमन से कुछ भी संबंध नहीं। जेवन्स ने कोको तथा लौंग के दृष्टांत में दुगुनी तथा आधी कीमत की जो बात कही, उसका ज्ञान आंकिक मध्यमा से सुगमता से हो जाता है। दो सौ रुपयों में जितना कोको तथा लौंग पहले आता था अब उससे बहुत कम आता है। दोनों ही पदार्थ यदि दो सौ रुपयों में अब खरीदने हों तो उनकी राशि पूर्वापेक्षा बहुत कम आवेगी। पूर्व राशि में यदि दोनों ही पदार्थ खरीदने हों तो दो सौ पच्चास रुपयों की ज़रूरत होगी। गणना से मालूम पड़ेगा कि रुपयों की क्रय-शक्ति पाँचवाँ भाग कम हो गई। जो चीज़ पहले २०० में आती थी अब उसके लिये २५० रुपये और इसी प्रकार १०० की वस्तु के लिये १२५ रुपये खर्च करना ज़रूरी है। आंकिक मध्यमा से यही बात पुष्ट होती है। उसके अनुसार अब $\frac{२०० + ५०}{२}$ = १२५ एक सौ पचीस रुपयों की वह क्रयशक्ति है जो कि पहले सौ रुपयों की क्रयशक्ति थी। सारांश यह है कि आंकिक मध्यमा ही ठीक है*।

सबसे बड़ी बात यह है कि आंकिक मध्यमा का निकालना

---

* जे. एल. लघलिन रचित 'दी प्रिन्सिपल्स आफ् मनी'। १९०३। पृ० १५४

बहुत सुगम है। जो कुछ इसमें दोष है वह यही है कि कीमतों के भारी परिवर्त्तनों से इसमें गड़बड़ आ जाती है। बहुत संख्याओं को ही इसके द्वारा महत्त्व मिलता है। ज्यामितिक मध्यमा में इससे विपरीत होता है। अल्प संख्याओं का महत्व ही इसके द्वारा बढ़ जाता है। परंतु इसका निकालना सुगम काम नहीं। यदि बहुत से पदार्थों की कीमतें एक सदृश हों और उनमें परिवर्त्तन भी भयंकर न हों तो आंकिक मध्यमा से काम लेना चाहिए। यदि मुद्रा की क्रयशक्ति मापनी हो और उसका आधार पदार्थों की राशि रखना हो तो ज्यामितिक मध्यमा निकालना उचित होगा। यदि पदार्थों की सूची में कुछ एक पदार्थों की कीमतें बहुत बदलती हों और बहुत से पदार्थों की कीमतें स्थिर हों तो संवादिक मध्यमा लेना ही अच्छा होगा।*

इन तीनों मध्यमाओं के सदृश ही अंतर्वर्ती मध्यमा (Medium) भी है। ५, ६, ८, ९, १० की अंतर्वर्ती मध्यमा ८ हुई। बहुत सी क्रमिक घटती या बढ़ती संख्याओं के बीच की संख्या को ले लेना ही अंतर्वर्ती मध्यमा निकालना है। मूल्य-सूची में इसका प्रयोग नहीं किया जाता; क्योंकि वास्तविक कीमत से यह बिलकुल भिन्न होती है। इसके द्वारा प्राप्त संख्याओं पर किसी भी विचार का आधार नहीं रखा जा सकता।†

---

* किले रचित 'मनी'। संस्करण १९१६ | पृष्ठ, २११–२२३.

† पूर्वनिर्दिष्ट ग्रंथ। पृष्ठ. २३१ तथा २३२।

४—मूल्यसूची में पदार्थों की संख्या

मूल्यसूची में कितने तथा कौन कौन से पदार्थ रखे जायँ, यह मूल्यसूची के आर्थिक उद्देश्य पर निर्भर है। जिस उद्देश्य से मूल्यसूची बनाई जा रही हो उसीको सामने रखकर पदार्थों की संख्या का निर्णय करना चाहिए। साधारणतया मूल्य-सूची में उन्हीं पदार्थों को स्थान मिलना चाहिए जिनकी माँग बहुत अधिक हो। मूल्य-सूची में पदार्थों की संख्या जितनी अधिक हो उतना ही अच्छा है। कुछ पदार्थ तो ऐसे हैं जिनका मूल्य सूची में होना सभी विद्वानों को प्रायः अभीष्ट है। बहुत से पदार्थों पर भयंकर मतभेद भी है। यह सब होते हुए भी सावर्क (Sauerbeck) तथा साटबीयर (Soetbeer) की मूल्यसूची में पदार्थों की संख्या कम नहीं कही जा सकती।

पदार्थों की संख्या के सदृश ही उनके पारस्परिक महत्व का भी मूल्यसूची में विशेष रूप से खयाल करना पड़ता है। जिस मूल्यसूची में सोना तथा रूई या गेहूँ तथा काली मिर्च सब एक सदृश राशि में रखे गए हों और उनको एक सदृश ही महत्व दिया गया हो उसको प्रामाणिक नहीं समझा जा सकता। प्रश्न जो कुछ है, वह यही है कि किस आधार पर भिन्न भिन्न पदार्थों की भिन्न भिन्न मात्रा का चुनाव किया जाय। प्रश्न की उलझन इसी से स्पष्ट है कि इस पर भयंकर मतभेद है। उत्पत्ति, आयात, निर्यात, प्रयोग, माँग आदि अनेक तत्व हैं जिन पर मूल्यसूची का आधार रखा जाता है।

महाशय आर. पी. फाल्कनर ने घरेलू खर्चों में आनेवाले पदार्थों को उसी मात्रा में अपनी मूल्यसूची में रखा जिस मात्रा में कि उनका प्रयोग भिन्न भिन्न घरोंमें होता है। भोजन, वस्त्र, घर का भाड़ा तथा रोशनी आदि का खर्च जिस अनुपात में साधारण घरों में होता है, उसी अनुपात से उनकी मात्रा लेकर उसने मूल्य सूची तैयार की। घरों का खर्च जानने के लिये उसने दो सौ बत्तीस भिन्न भिन्न परिवारों के खर्चों का अध्ययन किया। इस सब मेहनत के बाद भी मूल्यसूची सन्तोषप्रद न बनी। प्रोफेसर टासिग ने लिखा है कि 'फाल्कनर की मूल्यसूची में ५० सैकड़ा वे पदार्थ हैं जो कि प्रतिदिन बाजार से खरीदे जाते हैं। शेष पदार्थों में उसने धातु, रासायनिक द्रव्य, लकड़ी, मकान का सामान आदि सम्मिलित किये हैं। वस्तुतः भिन्न भिन्न घरों में इन चीजों का प्रयोग किस मात्रा में होता है, इस पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया गया। इसी लिये इस सूची को कृत्रिम या कल्पित ही समझना चाहिए। यह सब होते हुए भी पारिवारिक खर्चों में आनेवाले पदार्थों की मूल्यसूची तैयार करना जरूरी है। इसमें कितनी ही कठिनाई क्यों न हो, इसका परित्याग नहीं किया जा सकता।" प्रोफेसर टासिग ने ठीक लिखा है कि "यदि हमको समाज के भिन्न दलों या श्रेणियों के लोगों की वास्तविक आर्थिक दशा का ज्ञान प्राप्त करना हो और कीमतों के चढ़ने उतरने से उनकी स्थिति कहाँ तक बदली, इसका अन्वेषण करना

हो तो मूल्यसूची की पारिवारिक आय-व्यय-विधि (The Budget Method) का सहारा लेना नितांत आवश्यक है। मजदूरों की हालत जानने के लिये यह जरूरी है कि पिछले सालों की उनकी मौद्रिक आमदनी तथा कीमतों की वृद्धि का ज्ञान प्राप्त किया जाय। कीमतों की सूची में भोज्य पदार्थों की संख्या अधिक होनी चाहिए क्योंकि मजदूरों का चालीस फी सैकड़ा खर्च अन्न पर ही होता है। मध्यम श्रेणी के लोगों में यह बात नहीं है। वह लोग अन्न की कीमतों के चढ़ाव को अन्य स्थानों तथा पदार्थों की कीमतों के उतार से सह सकते हैं। यही कारण है कि भिन्न भिन्न श्रेणी के व्यक्तियों के लिये भिन्न भिन्न मूल्यसूची ही उपयुक्त होगी। समाज की भिन्न भिन्न श्रेणियों की आर्थिक दशा तब तक नहीं जानी जा सकती जब तक कि मूल्यसूची पारिवारिक दृष्टि से न बनाई जाय।"*

सन् १८४६ के बाद फ्रांसीसी कमीशन (French Commission des Valuees de Dousue) ने मूल्यसूची में आयात निर्यात को आधार रखा। इस सूची के साथ आर. एच. इंग्लिश पाल्ग्रेव का नाम विशेष तौर पर संबद्ध है; क्योंकि उसी ने इस ओर विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया। मूल्यसूची की आयात-निर्यात विधि (Import and Export System) का वर्णन महाशय से ने इस प्रकार किया है:—

---

* Royal Commission on Depression of Trade & Industry, Third Report, Appendix. B. P. 361.

"फ्रांसीसी कमीशन का यह कर्त्तव्य था कि वह आयात-निर्यात पदार्थों का मूल्य रजिस्टर में दर्ज करे। इसी उद्देश्य से आयात-निर्यात का वर्गीकरण किया गया है। दृष्टान्त स्वरूप बुने हुए पदार्थों में भिन्न भिन्न प्रकार के कपड़ों को रखा गया है। अन्य पदार्थों को भी किसी न किसी वर्ग में विभक्त कर दिया गया है। शुरू शुरू में पदार्थों की मात्रा की ओर कोई ध्यान न था। रेशम तथा सूत के कपड़ों की कीमत ४ तथा २ रखकर रजिस्टर में माध्यमिक कीमत $\frac{२+४}{२}=३$ रख दी जाती। १८४६ में महाशय लोगटट् तथा नान्टेल्ज़ के कहने पर पदार्थों की राशि को भी सम्मिलित कर मध्यमा निकाली गई और मूल्य सूची बनाई गई।"*

विचारकों की सम्मति है कि मुद्रा की क्रय-शक्ति के परिवर्त्तनों को जानने के लिये मूल्यसूची की आयात-निर्यात विधि ही अधिकतर उपयुक्त है। परन्तु यह भी निर्दोष नहीं; क्योंकि समाज की किसी एक श्रेणी की जनसंख्या यदि बढ़ जाय और उस वृद्धि के साथ ही साथ उस श्रेणी का रुचिकर पदार्थ देश में अधिक संख्या में आ जाय तो मुद्रा की क्रयशक्ति एक सदृश रहते हुए भी आयात में वृद्धि हो सकती है। तत्व तो यह है कि व्यय योग्य पदार्थों पर मूल्यसूची का आधार नहीं

---

† जे. एल. लारैन्स लघलिन रचित 'दि प्रिन्सिपल्स आव् मनी'। (१६०३)

रखा जा सकता; क्योंकि उनकी संख्या, मात्रा तथा प्रयोग हर समय बदलता रहता है।

महाशय गिफन ने मुद्रा की क्रयशक्ति मापने का जो तरीका निकाला वह भी सन्तोषप्रद नहीं। उसने अपनी मूल्य-सूची में नवीन वर्ष के व्यय योग्य पदार्थों की कीमतों की मध्यमा पिछले साल की कीमतों के आधार पर और इसी प्रकार नवीन वर्ष की कीमतों के आधार पर भी निकाली। दोनों की तुलना कर उसने मुद्रा की क्रयशक्ति जानने का यत्न किया। परन्तु दोष ज्यों का त्यों मौजूद रहा। गिफन के सदृश ही साट्बीयर तथा सार्बक ने अपनी मूल्यसूची पदार्थों के वार्षिक व्यय के आधार पर बनाई है। * परन्तु पदार्थों का व्यय सदा बदलता रहता है। उनका महत्व भी प्रति वर्ष घटता बढ़ता रहता है। कभी कोई पदार्थ महत्व प्राप्त करता है और कभी कोई। इस दशा में पदार्थों के व्यय पर मूल्य सूची का आधार नहीं रखा जा सकता। सबसे बड़ी कठिनाई तो यह है कि आजकल नए नए पदार्थों का आविष्कार होता जाता है। मोटर, बाइसिकिल आदि के खर्चे आज से दो सौ साल पहले न थे। आजकल उच्च श्रेणी के लोगों के खर्चों में इनका काफी भाग है।

जाति तथा व्यक्ति के विचार से ही मूल्यसूची में थोक तथा फुटकर कीमतों का व्यवहार किया जाना चाहिए। यदि

---

* किन्ले रचित 'मनी' पृ. २३५.

एक मात्र कीमतों के परिवर्त्तन को ही दिखाना हो तो थोक कीमतों का लेना कुछ भी दोषप्रद नहीं है। यदि समाज की किसी श्रेणी की आर्थिक दशा को मापना हो तो फुटकर कीमतों के सहारे ही मूल्य-सूची बनानी चाहिए। जाति की आर्थिक दशा जानने के लिये थोक कीमतों का प्रयोग ही उचित होगा।

५—मूल्यसूची का प्रयोग

मूल्य-सूची के प्रयोग में बहुधा असावधानी हो जाती है। भिन्न भिन्न समयों की मूल्य-सूची एक सदृश हो सकती है जब कि पदार्थों की कीमतों में बहुत ही अधिक भेद आ गया हो। इसका एक मुख्य कारण है। कुछ पदार्थ जब मूल्य में बहुत चढ़ जाते हैं और उसी अनुपात में मूल्य-सूची के दूसरे पदार्थ मूल्य में गिर जाते हैं तब मूल्य-सूची पदार्थों के मूल्य के परिवर्त्तनों को दिखाने में असमर्थ हो जाती है। यही कारण है कि सापेक्षिक कीमतों को जानने के लिये मूल्य-सूची का निर्माण दूसरी विधि पर किया जाता है। थोड़े से पदार्थों के मूल्य के साथ संबद्ध व्यक्तियों के लिये साधारण मूल्य-सूची निरर्थक है।

पदार्थों का मूल्य स्थान तथा समय के भेद से भिन्न हुआ करता है। बहुधा एक ही समय में एक ही पदार्थ का भिन्न भिन्न स्थानों में भिन्न भिन्न मूल्य होता है। प्रोफेसर मार्शल ने लिखा है कि इंगलैंड में यदि हम मई-जून-जुलाई की स्ट्राबेरी के कीमतों की मध्यमा लें तो वह प्रामाणिक नहीं हो सकती। क्योंकि इन्हीं दिनों में स्ट्राबेरी बहुतायत से होती

है। ऋतु के शुरू तथा अंत में ही इसकी कीमत विशेष रूप से अधिक होती है। ऋतु के मध्य में यदि इसकी मध्यमा निकालनी हो तो विषम मध्यमा ही उचित होगी। सरल मध्यमा निर्दिष्ट उद्देश्य सिद्ध नहीं कर सकती।

भृति, वेतन तथा लगान मूल्य-सूची में सम्मिलित किया जाय वा नहीं, यह उसके उपयोग पर निर्भर है। यदि मूल्य-सूची का उद्देश्य केवल मूल्य संबंधी परिवर्त्तनों को दिखाना हो तो भृति तथा लगान का उसमें सम्मिलित करना निरर्थक है। परंतु यदि मूल्य-सूची से भृति या लाभ को दिखाना उद्देश्य हो तो उसका सम्मिलित करना नितांत आवश्यक है।

महाशय किले के मत में मूल्यसूची से निम्नलिखित चार बातों में सहायता मिलती है—

(१) अर्थशास्त्र के विद्यार्थी को किसी राष्ट्र या जनता की आर्थिक स्थिति के जानने में मूल्यसूची से सहारा मिलता है। आर्थिक इतिहास लिखने में भी मूल्य-सूची का प्रयोग किया जाता है।

(२) व्यापार को स्थिर करने के लिये कीमतों के परिवर्त्तनों को मापना और स्थिर मापक का प्राप्त करना यह दो आवश्यक काम हैं जिनमें मूल्यसूची से सहायता ली जाती है।

(३) चिरकालीन ऋणों को चुकता करने में मूल्य-सूची विशेष रूप से उपयोगी है।

(४) भिन्न भिन्न स्थानों में भिन्न भिन्न जनता अपनी भृति

तथा आय से कितना पदार्थ प्राप्त करती है, यह भी मूल्य-सूची से जाना जाता है।

प्रथम तथा द्वितीय लाभ को प्राप्त करने के लिये मूल्य-सूची में पदार्थों की जितनी अधिक संख्या रखी जा सके, रखी जाय और यदि हो सके तो उसमें भृति तथा आय को भी सम्मिलित किया जाय। तृतीय लाभ की प्राप्ति के लिये उत्तमर्ण तथा अधमर्ण के उपयोगी पदार्थों को चुनकर ही मूल्यसूची तैयार करनी चाहिए। चतुर्थ लाभ प्राप्त करने के लिये भिन्न भिन्न स्थानों के व्यवसायों में उत्पन्न होनेवाले पदार्थों की ही मध्यमा लेनी चाहिए।

साधारण उपयोग के लिये मूल्यसूची में व्यययोग्य पदार्थों को ही सम्मिलित करना चाहिए। कच्चे माल या असंस्कृत पदार्थ की कीमतें इसमें न संमिलित करना चाहिए; क्योंकि प्रत्यक्ष रूप से उनका प्रयोग कोई नहीं करता।

६—मूल्यसूची के निर्माता

क—बिशप फ्लीट् वुड्

बिशप फ्लीट्वुड् ने अपने क्रानिकान प्रेशियोसम (१७०७) नामक ग्रंथ में पाँच पाउंड की क्रयशक्ति जानने का यत्न किया। उसने १४४० से १४६० तक की गेहूँ, मांस, शराब तथा कपड़ों की कीमतों को आधार रखा। उसने अपने ग्रंथ के चौथे परिच्छेद में ३६ पदार्थों की ६०० वर्षों की कीमतें दी हैं।

उसने जो कुछ परिणाम निकाला है वह यही है कि २६० साल पहले ५ पाउंड के द्वारा उतना ही पदार्थ खरीदा जा सकता था जितना कि आजकल २८ या ३० पाउंड से इंग्लैंड में खरीदा जा सकता है।

ख—सर् जार्ज शौकवर्ग एवलीन

इसने १७६८ में जर्मन विजय से अपने समय तक की संपूर्ण कीमतों की मध्यमा निकाली। पचास पचास साल की कीमतों को आधार रखा। उसने कीमतों के चढ़ने का जो क्रम दिया है वह इस पृष्ठ के साथ की मूल्यसूची से देखा जा सकता है।

ग-लंडन अर्थशास्त्रज्ञ मून्यसूची

(The Table of the London Economists)

वैज्ञानिक शैली पर बनाई गई मूल्यसूची में महाशय न्यूयार्क की मूल्य सूची बहुत ही अधिक प्रसिद्ध है। प्रसिद्धि का मुख्य कारण इसका चिरकाल तक प्रचलित रहना है। इसमें १८४५ से १८५० तक के पदार्थों की कीमतों की मध्यमा १०० मानकर अगले वर्षों की मूल्यसूची तैयार की गई है। इसमें २२ पदार्थों को सम्मिलित किया गया है। कहवा, शक्कर, चाय, गेहूँ, मांस, रूई, रेशम, सन्, ऊन, नील, तेल, लकड़ी, चमड़ा, ताँबा, लोहा, जस्ता, टीन, सूत, वस्त्र आदि पदार्थ ही न्यूमार्च की सूची में मुख्य थे। इनकी कीमतों का कुल योग २२०० था। इसको १०० मानकर जो मूल्यसूची तैयार की गई उसका परिणाम १४६ वें पृष्ठके सामने के चित्र से स्पष्ट है।

समय
ष्टांत

ओं की
कती।
ई है।
ध्यान

गति

ों का
र वार

यत्न
ो को
रखा।
दार्थों
कई,
स्थान
ाया।
ोपीय
ोमतों

न्यूमार्च की मूल्यसूची में कुछ दोष थे जिनको समय समय पर भिन्न भिन्न संपत्तिशास्त्रज्ञ प्रकाशित करते रहे। दृष्टांत स्वरूप उनमें से कुछ इस प्रकार दिखाए जा सकते हैं—

(१) पदार्थों की संख्या बहुत ही कम है। बाईस पदार्थों की मूल्यसूची कभी प्रामाणिक नहीं मानी जा सकती।

(२) मूल्यसूची में एक एक दिन की मध्यमा ली गई है। वर्ष भर के मूल्य संबंधी परिवर्त्तनों की ओर ध्यान नहीं दिया गया।

(३) पदार्थों की संख्या के कम होने से कीमतों की गति स्पष्ट रूप से नहीं मालूम होती।

(४) पदार्थों का चुनाव भी उत्तम नहीं है। धातुओं का अनुपात भी ठीक नहीं है। रूई सूची में चार वार आई है।

इन दोषों को महाशय बोर्नी ने सुधारने का यत्न किया। उसने इसमें से रूई को निकालकर कोयले को स्थान दिया। द्रव्यों की संख्या को उसने ज्यों का त्यों रखा। उसने १८७९ तक की ही मूल्यसूची दी। बोर्नी ने सात पदार्थों की एक नई मूल्यसूची भी तैयार की। इसमें उसने रूई, शराब, रेशम, अफीम, चाय, गेहूँ और चावल को ही स्थान दिया। उसने १८७२-१८७७ की कीमतों को आधार बनाया।

सन् १८६५ से भारत की कीमतों की ओर भी यूरोपीय अर्थशास्त्रज्ञों का ध्यान गया। पाल्ग्रेव ने १८६५-६९ की कीमतों

को आधार बनाया और भारत की कीमतों की भी उपेक्षा नहीं की। प्रत्येक पदार्थ की विषम (Weighted) मध्यमा निकाली। यही कारण है कि रूई को ३४६ तथा नील के रंग को उसने ६ संख्या से सूचित किया जब कि कुल योग २२०० था।

घ—जेवन्स

प्रोफेसर जेवन्स ने १८६३ में कीमतों की ओर ध्यान दिया। उसने १८६५ के जर्नल आफ् दी रायल एशियाटिक सोसाइटी के (भाग २८) २६४-३२० पृष्ठ में मुद्रा की क्रय-शक्ति-भिन्नता के संबंध में एक लेख प्रकाशित किया। लंडन अर्थशास्त्रज्ञ सूची के पदार्थों को ही उसने आधार रखा। उसने केवल इतना ही भेद किया कि उसमें द्रव्य संख्या ३९ तक कर दी और सरल विधि पर ही मध्यमा निकाली। परंतु साथ ही उसने आंकिक मध्यमा के स्थान पर ज्यामितिक मध्यमा का ही प्रयोग किया। उसकी मूल्यसूची इस पृष्ठ के सामने दी गई है।

ङ—मुल्हाल

मुल्हाल ने कीमतों की मध्यमा निकालने में बहुत ही अधिक यत्न किया। उसने पदार्थों की विषम (weighted) मध्यमा निकालते समय कुल व्यापार को भी सामने रखा। यही कारण है कि उसकी शैली को व्यापारीय शैली (Trade Level Method) के नाम से भी पुकारा जाता है। उसने

१८०
१७०
१६०
१५०
१४०
१३०
१२०
११०
१००
९०
८०
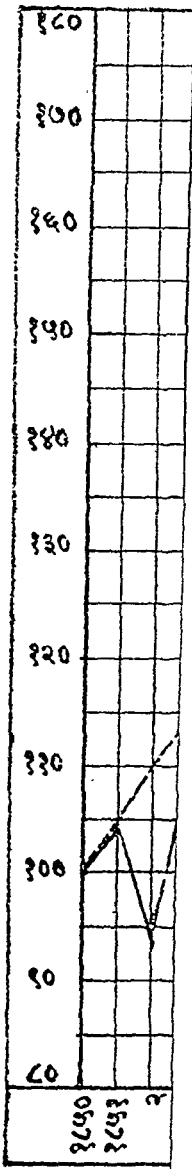
१८४१–१८५० की कीमतों को १०० मानकर आयात निर्यात के ५० पदार्थों की मध्यमा निकाली जो इस प्रकार है—

इंग्लैंड की कीमतें

१८५४...१०३	१८६६...१३९	१८७८...९६
१८५५...१०४	१८६७...१२६	१८७९...९२
१८५६...१०५	१८६८...१२१	१८८०...९६
१८५७...१११	१८६९...१२१	मध्यमा=९७
१८५८...१०३	१८७०...११०	१८८१...९४
१८५९...१०४	मध्यमा=१२३	१८८२...९४
१८६०...१०७	१८७१...११०	१८८३...९१
मध्यमा=१०५	१८७२...११६	१८८४...८७
१८६१...१०७	१८७३...१२१	मध्यमा=९१½
१८६२...११४	१८७४...११५	१८६१–७०...१२६
१८६३...१३३	१८७५...१०९	१८७१–८०...१०६
१८६४...१५२	मध्यमा=११४	१८५४–८४...११०
१८६५...१३८	१८७६...१०२	
मध्यमा=१२९	१८७७...१०३	

इंग्लैंड की कीमतों के सदृश ही मुल्हाल ने संसार की कीमतों पर भी प्रकाश डाला। उसमें भी उसने बहुत साव-धानी से काम किया है। स्वर्ण पाउंड में ही उसने संसार की मूल्य-सूची दी है।

मुल्हाल ने १७८२ के बाद की संसार की कीमतों तथा

१८४१ के बाद की इंग्लैंड की कीमतों की जो तुलना की है, वह बहुत प्रामाणिक नहीं मानी जा सकती । क्योंकि तुलना करते समय उसने भिन्न भिन्न वर्षों की कीमतों को आधार रखा।

च—सार्वक (Saurbeck)

इंग्लैंड की कीमतों के संबंध में आजकल सार्वक की मूल्य-सूची अत्यंत प्रामाणिक समझी जाती है। स्थान स्थान पर इसी का उद्धरण पेश किया जाता है। सार्वक ने सरल आंकिक मध्यमा का ही मूल्य-सूची में प्रयोग किया और १८६७-१८७७ की कीमतों को मध्यमा का आधार बनाया। इसमें ३७ भिन्न भिन्न पदार्थों की कीमतों का संग्रह है। परंतु एक ही पदार्थ का कई स्थानों पर प्रयोग होने से कुल संख्या ५६ तक जा पहुँचती है। सब के सब पदार्थ असंस्कृत रूप में ही लिए गए हैं, यही इस सूची का भी दोष है। पदार्थों की संख्या की न्यूनता, सरल आंकिक मध्यमा का प्रयोग, कीमतों की अप्रामाणिकता तथा कभी कभी मध्यमा निकाले बिना सीधे कीमतों को काम में लाना आदि अनेक दोष हैं जिनसे सार्वक की मूल्य-सूची भी निर्दोष नहीं कही जा सकती । इस पृष्ठ के सामने के चित्र से सार्वक की मूल्य-सूची का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।

छ—जे. एफ. एट्किन्सन

जे० एफ० एट्किन्सन ने रुपयों में भारत की कीमतों को
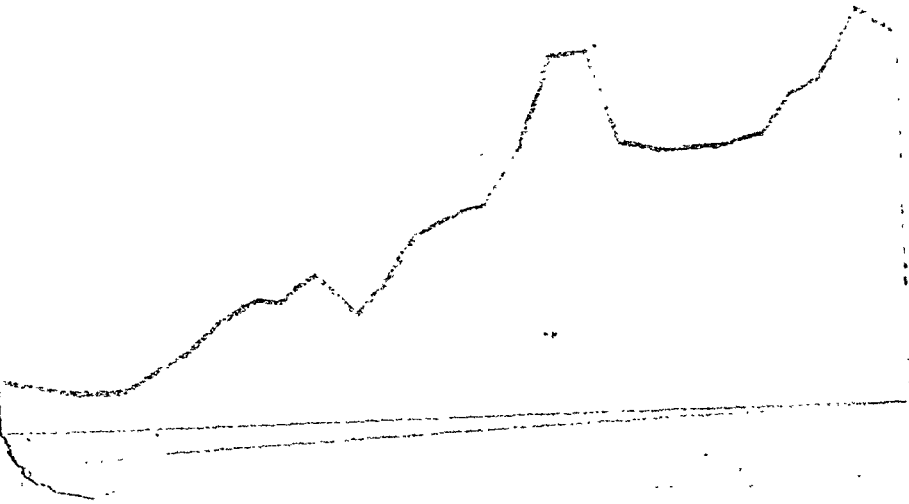
प्रकट किया है। चाँदी की स्थिति का ज्ञान इसी सूची से प्राप्त होता है। कीमतों के संग्रह में एट्किन्सन ने कलकत्ते की व्यापारीय समिति तथा सरकारी रिपोर्टों का सहारा लिया है। आंकिक मध्यमा से ही उसने मूल्य-सूची तैयार की है। १८७१ की कीमतों को ही उसने आधार रखा। देश के व्यापार में भिन्न भिन्न पदार्थों का विशेष महत्व देखकर विषय-विधि का प्रयोग किया।

ज—साट्बीयर (Soetbeer)

साट्बीयर ने अपनी मूल्य-सूची ११४ पदार्थों की कीमतों से बनाई। इसमें से १०० पदार्थों की कीमतें उसने हैम्बर्ग बाजार तथा १४ पदार्थों की कीमतें आंग्ल बाजार से प्राप्त कीं। १५०वें पृष्ठ के सामने के चित्र में उसकी मूल्य-सूची दी गई है।

झ—अन्य महाशय

फ्रांसीसी कीमतों के संबंध में डी एवनल (D'Avenal), डि फोविल (De Foville) तथा पाल्ग्रेव प्रसिद्ध हैं। फाल्कनर (Falkner) ने भी बहुत कुछ फ्रांसीसी कीमतों का संग्रह किया। स्विट्जलैंड की कीमतों के ज्ञान के लिये वाल्श की मूल्यसूची ही प्रसिद्ध है। चर्चाई, फाल्कनर आदि ने अमेरिकन कीमतों का संग्रह किया। भारत के लिये दत्त का ग्रंथ ही उत्तम है। हम ने स्वयं भी ईसा के पाँच सौ साल पहले से बारहवीं सदी तक की कीमतों का संग्रह, ताँबे के

पण तथा चाँदी के कार्षापण या द्रम्म में किया है। जब तक उसको अन्य महाशय प्रामाणिक न मान लें तब तक उसको इस ग्रंथ में स्थान देना उचित नहीं प्रतीत होता। मुसलमानी काल में भारत में कीमतों की क्या दशा थी, इस संबंध में अन्वेषण की विशेष आवश्यकता है। यदि कोई योग्य महाशय इस काम को अपने हाथ में ले लें तो बड़ा उपकार हो।

१६०
१५०
१४०
१३०
१२०
११०
१००
९०
८०
७०

१८५०
१८५१
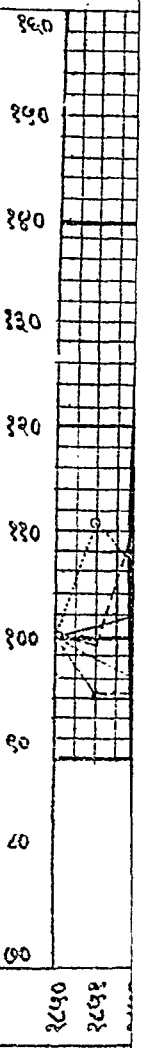
ही
रीं।
यों
या
पूर्ण
तक
राने
तक
पर
ी है

ज के
। का
वृष्टि

छठा परिच्छेद

मापक संबंधी समस्या

१—समय का तत्व

किसी समय तथा किसी स्थान में काम के प्रारंभ करते ही काम खतम हो जाता तो बहुत सी उलझनें न पैदा होतीं। परंतु यह बात नहीं है। व्यावसायिक तथा व्यापारीय कार्यों में श्रमविभाग तथा साख का प्रभुत्व बहुत ही अधिक बढ़ गया है। काम शुरू कभी होता है और खतम कभी होता है। पूर्ण कार्य्य को सामने रखो तो संसार के दूर से दूरवर्ती प्रदेश तक उसका संबंध दृष्टिगोचर होता है। इस हालत में पुराने संबंधों का आधार जिन बातों पर हो, उनका चिरकाल तक स्थिर रहना आवश्यक है। साख-रूपी नट जिन रस्सियों पर नाचता हो, विश्वास तथा न्याय के संरक्षण के लिये जरूरी है कि वह रस्सियाँ स्थिर तौर पर एकरस बनी रहें।

यह पहले ही लिखा जा चुका है कि मुद्रा पर ही समाज के संपूर्ण व्यवहार निर्भर हैं। लेनदेन, क्रयविक्रय तथा साख का विशाल भवन मुद्रारूपी नींव पर ही खड़ा है। भूकंप या वृष्टि

से जब किसी मकान की नींव हिल जाती है, तब व्यक्तियों का उसमें रहना सुरक्षित नहीं रहता। उस समाज की स्थिति क्या होगी जिसके आर्थिक व्यवहारों का दारोमदार एक ऐसी मुद्रा-रूपी अस्थिर नींव पर है जो गाड़ी के पहिए की तरह दिन रात घूमती है, जिसमें स्थिरता तथा नियम-बद्धता का पूर्ण तौर पर अभाव है और जो उपलब्धि तथा माँग के भँवर में पड़ी है ?

गज तथा सेर स्थिर हैं, इससे क्रयविक्रय सुगमता से चलता है। दुःख तो इसी बात का है कि संसार में अभी तक कोई ऐसा पदार्थ नहीं जिसका मूल्य स्थिर हो और जो मुद्रा के रूप में व्यवहार का अपरिवर्त्तनशील मापक तथा साधक बन सके। रिकार्डो ने ठीक कहा है कि—"वस्तुतः मूल्य का समाज में कोई स्थिर मापक नहीं है। सोने चाँदी का मूल्य उनकी उपलब्धि तथा माँग के अनुसार हर समय बदलता रहता है। अनुभव यही बताता है कि सोना चाँदी अन्य पदार्थों से उत्तम है क्योंकि लंबे समय को सामने रखते हुए उनका मूल्य अन्य पदार्थों की अपेक्षा अधिकतर स्थिर है। यही कारण है कि उनको मूल्यों का मापक माना गया है।"

मापक का मूल्य क्यों बदलता रहता है, इसके मुख्यतया दो कारण हैं। पहला कारण अन्य पदार्थों के साथ और दूसरा कारण मुद्रा के साथ संबद्ध है। विषय की सुगमता के लिये यदि मुद्रा तथा उसकी धातु के मूल्य को स्थिर

मान लिया जाय तो पदार्थों का मूल्य निम्नलिखित कारणों से बदलता रहता है—

(१) समाज में राजनीतिक तथा सामाजिक आन्दोलन से परिवर्त्तनों का होना। दृष्टांत स्वरूप अमेरिका की दक्खिनी रियासतों को ही लीजिए। उनमें जब दासत्व-प्रथा उठी तब समाज की आर्थिक दशा बहुत अधिक बदल गई।

(२) नए नए उपनिवेशों के बसाने से भी यही बात पैदा हो जाती है।

(३) नए नए बाजारों के खुलने तथा मालूम पड़ने पर भी पदार्थों का मूल्य बदल जाता है। भारत का योरप से व्यापार जब से शुरू हुआ, तभी से भारत में अन्न मँहगा हो गया।

(४) जनता की रुचि तथा आमोद-प्रमोद की विधि में जब परिवर्त्तन होता है, तब बहुत से पदार्थों का मूल्य अस्थिर हो जाता है।

(५) नए नए आविष्कारों का प्रभाव भी पदार्थों के मूल्यों पर पड़ता है। रेल, तार तथा भाप से चलनेवाले जहाजों ने इस मामले में विशेष तौर पर भाग लिया है।

(६) समुद्र तथा स्थल में आने जाने का तथा माल को एक दूसरे स्थान पर भेजने का खर्च पूर्वापेक्षया बहुत ही कम हो गया है। सन् १८७३ के बाद कलकत्ते तथा लंदन के बीच में गमनागमन का जो भाड़ा कम हुआ है, उससे पदार्थों के मूल्य में बहुत ही अधिक फरक पड़ गया है।

प्राचीन तथा अर्वाचीन व्यवसाय में सबसे बड़ा भेद यह है कि आजकल पदार्थों के उत्पन्न करने में समय का भाग बहुत ही अधिक बढ़ गया है। पदार्थों के बनने के क्रमों का निर्धारण कर प्रत्येक क्रम के लिये भिन्न भिन्न कलें बनाई गई हैं और जहाँ तक हो सका है, मनुष्यों की संख्या को कम-कर पदार्थों की उत्पत्ति में खर्च घटा दिया गया है। इसका परिणाम यह है कि पदार्थों का दाम पूर्वापेक्षया कम है। लोहे तथा इस्पात के कारखानों को देखने से पता लग सकता है कि संसार कितना आगे बढ़ा है। छोटे छोटे कामों के लिये कलें बनी हैं और जो काम हजारों मनुष्यों की ताकत से न होता, उसको एक ही मनुष्य कल के सहारे कर लेता है। उत्पत्ति के सदृश ही पदार्थों का विभाग भी संसारव्यापी हो गया है। पदार्थ बनता कहीं है और बिकता कहीं है। नए नए बाजार पदार्थों के लिये खुल गए हैं। सभी राष्ट्र वाष्पीय पोतों तथा रेलों का प्रयोग बढ़ाते जाते हैं। तार तथा टेलीफोन व्यापारीय कामों के लिये काम में लाए जाते हैं और इस प्रकार भिन्न-भिन्न चीजों की दर सारे संसार में एक समय में ही प्रकाशित हो जाती है। मध्यस्थ लोगों की संख्या भी कम हो गई है। व्यवसायी वृहत् रूप में पदार्थों को पैदा करते हैं और स्वयं ही दूर दूर के देशों में पदार्थों को भेजते हैं। इससे व्ययियों तक पदार्थ बहुत कम खर्च में पहुँच जाता है। लड़ाई से पहले अच्छी टाइम पीस ढ़ाई रुपए से दस रुपए तक में मिल

जाती थी। पुराने जमाने में एक टाइम्पीस के बनाने में सैकड़ों रुपया खर्च होता था और जनता तक पहुँचने में उसका जो दाम हो जाता था, उसका अनुमान नहीं किया जा सकता। कागज कितना सस्ता है और किताबें प्रेस के सहारे कितने कम खर्च पर मिल जाती हैं।

पदार्थों की उत्पत्ति में कम खर्च को सामने न रखकर, बहुत से आलोचकों ने मुद्रा को ही कीमतों के परिवर्त्तन में मुख्य कारण समझ लिया। मुद्रा तथा मौद्रिक धातु कम हैं, और इसी लिये पदार्थ सस्ते हैं, इसका उपाय होना चाहिए; मुद्रा संबंधी धातुओं की मात्रा बढ़ानी चाहिए इत्यादि बातों को अखबारों में पुष्ट किया गया और द्विधातवीय मुद्रा विधि के अवलंबन के लिये नई नई युक्तियों को पेश किया गया।

पदार्थों की उत्पत्ति तथा उत्पत्ति संबंधी कारणों के सदृश ही मुद्रा संबंधी कारण भी मूल्यों के परिवर्त्तन में विशेष भाग लेते हैं। विषय को स्पष्ट करने के लिये कल्पना करो कि पदार्थों की उत्पत्ति में कुछ भेद नहीं आया। उत्पत्ति से संबद्ध अन्य बातों में भी कोई फरक नहीं पड़ा। इस हालत में मुद्रा कीमतों पर जो प्रभाव डालेगी, वह उसकी माँग तथा उपलब्धि के साथ ही संबद्ध है। बहुमूल्य धातुओं में सबसे उत्तम गुण यह है कि वह चिरकाल तक स्थिर रहती हैं। उनमें विकार नहीं आता। दृष्टान्त स्वरूप सोने को ही लीजिए। अमेरिका

की मानेटरी कमीशन की रिपोर्ट* है कि "प्रलंब समय को सामने रखते हुए यह कहा जा सकता है कि सोने की वार्षिक उत्पत्ति की अपेक्षा सोने की मात्रा बहुत ही अधिक है। जिस प्रकार नदियों में बाढ़ आने से समुद्र का पानी बहुत चढ़ता नहीं है, उसी प्रकार सोने-रूपी समुद्र की दशा है। इधर उधर की सोने की खानों से बहुत सोना आने पर भी सोने की कीमत में बहुत भेद नहीं पड़ता।" स्पष्ट है कि सोने की उपलब्धि कम होने से और सोने की पूर्व राशि के बहुत अधिक होने से उसके दामों में वह चंचलता नहीं है जो कि अन्य पदार्थों के दामों में होती है। यही कारण है कि अर्वाचीन आर्थिक संसार ने यही उचित समझा है कि सोने को ही मूल्य का मापक माना जाय। सोने के मूल्य की स्थिरता का इससे बढ़कर और क्या प्रमाण हो सकता है कि १८५० से १६०० तक खानों से ६५०००००००० डालर्स का सोना खुदा, परंतु उसकी माँग ज्यों की त्यों बनी रही और उसकी कीमतों में बहुत भेद नहीं आया।

उल्लिखित संदर्भ का यह तात्पर्य्य नहीं है कि सोने के मापक होने से मापक संबंधी समस्या ही सरल हो गई। पुराने समय के ग्रंथों को जब देखते हैं तब इसका रहस्य सामने आता है। चन्द्रगुप्त मौर्य्य से बहुत पहले एक समय था जब कि भारत में १२ गोरखपुरी पैसे का एक तोला सोना

---

* Report of Monetary Commission. 1898. P. 95.

आता था और उस पैसे की क्रयशक्ति अर्वाचीन आध गिन्नी से भी अधिक थी। चन्द्रगुप्त के समय में राजकीय कर्मचारियों का जो वेतन था, वह गोरखपुरी पैसों में दिया हुआ है। पैसे की क्रय-शक्ति के बदलने से वह वेतन कम है या अधिक है, वह लोग सुखी थे या दुःखी थे, इस बात का कुछ भी ज्ञान नहीं प्राप्त होता। २२६ ई० में भारत में सोने की जो क्रयशक्ति थी, वह आजकल नहीं है। प्रलंबकालीन समय को सामने रखते हुए यह कहा जा सकता है कि आगे चलकर भी यही बात होगी। आज के एक हजार साल बाद जो लोग होंगे, उनको इस समय की आर्थिक दशा का ज्ञान पूर्ण रूप से न होगा।

मापक के स्थिर न होने से प्रलंबकालीन लेन देन एक प्रकार का जूआ बन गया है। जिनको समाज की आर्थिक गति का कुछ भी ठीक अनुमान हो गया, वे लोग इससे लाभ उठा लेते हैं। सरकार के प्रामेसरी नोटों तथा ऋणों में जो लोग रुपया लगाते हैं, उनको इस बात का खयाल होता है कि उसी में रुपया लगाना हितकर है। परंतु ऐसे लोगों ने कितनी गलती की, इसका ज्ञान प्रामेसरी नोटों की कीमतें ही बता रही हैं। सरकार को प्रामेसरी नोटों में १०० रुपया देकर बाजार में आजकल उसके बदले ५० रुपयों के लगभग ही धन मिलता है। पूँजी का कुछ ही वर्षों में आधा हो जाना कुछ कम नुकसान नहीं कहा जा सकता। यही कारण है कि चिरकाल से लोग स्थिर मापक के अन्वेषण में हैं। जब तक स्थिर मापक

न मिले तब तक समाज के बहुत से कष्ट दूर नहीं हो सकते। युवावस्था में अर्जित धन को किस स्थान में लगाया जाय जिससे वह वृद्धावस्था में सहारा हो सके? मँहगी दिन पर दिन अधिक हो रही है। जिस मनुष्य ने बीस साल पहले किसी बैंक में १०० रुपया जमा किया, उसको बीस साल बाद भी १०० रुपया ही मिला; परंतु मँहगी के दूने होने से उसका धन एक प्रकार से आधा हो गया। यही बात सरकारी पेन्शन-वालों की है। बीस साल पहले जिनको ५० रुपया पेंशन मिलती थी, वही रकम आज भी मिल रही है जब कि उसका मूल्य पूर्वापेक्षया चौथाई रह गया है। स्थिर तनख्वाहवालों को भी ऐसा कष्ट उठाना पड़ रहा है। मँहगी के कारण उनकी भृति बढ़ने के स्थान पर पूर्वापेक्षया कम हो गई है। प्राविडेंट फंड बीस बीस साल के बाद मिलता है। सस्ती के समय में जितना धन काटा गया, उतना ही धन मँहगी के दिनों में लौटाया जाता है जब कि उसका मूल्य पूर्वापेक्षया बहुत ही कम रह गया है।

मापक की समस्या ही अर्वाचीन समाज की समस्या है। हड़ताल, द्वारावरोध तथा मध्य श्रेणी के नौकरीपेशा लोगों की दुर्दशा का मुख्य कारण यही है। इस प्रकार स्पष्ट है कि मापक की स्थिरता नितांत आवश्यक है।

२—मापक का प्रश्न

साख तथा लेनदेन के प्रश्न को सामने रखते हुए भी हम

इसी परिणाम पर पहुँचते हैं। यदि समाज में नकदी का व्यवहार ही चले तब तो लेनदेन की दृष्टि से मापक की स्थिरता की कुछ भी जरूरत न रहे। परंतु यह बात नहीं है। आजकल उधार पर ही औद्योगिक तथा व्यापारिक व्यवहार का आधार है। चीजें तथा धन उधार पर किसी एक समय में लिए जाते हैं और उनके बदले धन तथा चीजें किसी दूसरे समय पर दी जाती हैं। भारतवर्ष में हिसाब किताब प्रायः नवरात्र के पहले ही होता है। मापक के मूल्य के स्थिर न होने से इससे बहुत गड़बड़ पैदा हो जाती है। दृष्टांत-स्वरूप यदि एक व्यापारी एक साल के लिये १००० रुपया ६ सैकड़े व्याज पर उधार ले और उसके द्वारा कपड़े का रोज-गार करे तो उसको तब तक किसी ढंग का नुकसान नहीं पहुँच सकता जब तक कि रुपए का मूल्य स्थिर हो या मँहगी के रूप में उसकी क्रयशक्ति घट जाय। परंतु यदि दैवात् साल भर कपड़े का दाम प्रति दिन गिरता चला जाय तो रुपए की क्रयशक्ति के बढ़ने से उधार धन का चुकता करना उसके लिये कुछ भी सुगम नहीं रहे।

इस प्रकार स्पष्ट है कि उत्तमर्णों तथा अधमर्णों की दृष्टि से मापक के मूल्य का स्थिर करना आवश्यक है। मापक इतना स्थिर होना चाहिए कि ऋणदान तथा ऋण-संशोधन में किसी प्रकार का भी अन्याय न हो सके। मँहगी के कारण अधमर्ण ही क्यों लाभ उठावे? और सस्ती के कारण उत्तमर्ण ही लाभ

का क्यों भागी हो? बहुत से अर्थशास्त्रज्ञों का मत है कि मँहगी के कारण उत्पन्न अनर्जित आय या आर्थिक लगान समाज को ही मिलनी चाहिए; क्योंकि मँहगी या उन्नति में मुख्य कारण समाज ही है। परंतु प्रश्न तो यह है कि इसका निर्णय कौन करे कि कितनी अनर्जित आय समाज के कारण है और कितनी अनर्जित आय में उत्पादक, व्यापारी या अधमर्ण का श्रम मुख्य हेतु है? यही कारण है कि कुछ विद्वानों का मत है कि इस ढंग की अनर्जित आय या आर्थिक लगान उन्हीं पक्षों को मिलना चाहिए जिनका कि आपस में लेनदेन है; और यदि उसमें नुकसान हो तो नुकसान भी वही उठावें। यदि मँहगी है और मुद्रा की क्रयशक्ति घट रही है तो इसका लाभ अधमर्ण ही उठावे; और यदि सस्ती है और मुद्रा की क्रयशक्ति दिन पर दिन बढ़ रही है तो इसका लाभ उत्तमर्ण को मिलना चाहिए। राज्य या समाज को इसमें कुछ भी हस्तक्षेप न करना चाहिए। यदि उसको हस्तक्षेप करना ही है तो उसको मापक के स्थिर करने में ही यत्न करना चाहिए। मापक के स्थिर होने से सभी दलवालों का हित स्वयं ही हो जायगा।

प्रश्न जो कुछ है वह यही है कि जब तक मापक स्थिर न हो तब तक क्या किया जाय? यदि समाज अनर्जित आय या आर्थिक लगान न भी ग्रहण करे तो भी इस आय का विभाग किस प्रकार करे? अधमर्ण तथा उत्तमर्ण, विक्रेता तथा

क्रेता में मँहगी तथा सस्ती का लाभ-हानि का विभाग किस प्रकार हो ? कौन सा न्याय-संबंधी सिद्धांत है जिस पर इसका आधार रखा जाय ? यदि इस ओर कुछ भी विचार न किया जाय तो इससे समाज में अन्याय की मात्रा बढ़ती है। बिना श्रम के एक लाभ उठाता है और श्रम करते हुए दूसरा नुकसान उठाता है। यहाँ पर ही बस नहीं, इससे लोगों की आदत भी बिगड़ जाती है। उनमें भाग्यवाद तथा सट्टा बढ़ जाता है जो किसी विकासशील समाज के लिये हितकर नहीं हो सकता।

कुछ विद्वानों का मत है कि "समाज का हित इसी में है कि अधमर्णों को अनर्जित आय का अधिक भाग मिले।" परंतु बहुत से विद्वान् इसके विरुद्ध इस मत को पुष्ट करते हैं कि "समाज की उन्नति में जिस श्रेणी के लोगों ने जितना श्रम किया हो, उनको उसी के अनुसार अनर्जित आय का अधिक भाग मिलना चाहिए।" इसी के बीच में एक तीसरा पक्ष भी है जो अनर्जित आयको उत्तमर्णों तथा अधमर्णों में समान भाग में बाँट देना चाहता है।

३—मापक संबंधी सिद्धांत

मापक संबंधी सिद्धांतों पर विचार करने के पूर्व इस बात पर विचार करना नितांत आवश्यक है कि कौन सा सिद्धांत समाज की दृष्टि से न्याययुक्त है और कौन सा सिद्धांत उत्त-

मर्ण तथा अधमर्ण की दृष्टि से उचित है। सभी लोगों के लिये तो कोई एक मापक उचित हो ही नहीं सकता; क्योंकि कीमतें एक नियम से नहीं चलतीं। बहुत से पदार्थों का मूल्य चढ़ता है और बहुत से पदार्थों का मूल्य घटता है। अतः एक के लिये जो मापक ठीक होगा, वह दूसरे के लिये ठीक न होगा। बहुधा उत्तमर्ण तथा अधमर्ण दोनों को ही नुकसान उठाना पड़ेगा। यह प्रायः उस समय होगा जब कि आधे पदार्थ का दाम जितना ऊपर चढ़े, उतना ही आधे पदार्थ का दाम नीचे उतरे और इस प्रकार मूल्यसूची में किसी ढंग का पूर्वापेक्षया भेद न आवे। ऐसी भी स्थिति हो सकती है जब कि अधमर्ण को तो लाभ और उत्तमर्ण को हानि हो। विषय को समझने के लिये कल्पना करो कि अधमर्ण का पदार्थ मूल्यसूची के संपूर्ण पदार्थों का $\frac{1}{1000}$ वाँ भाग है और आधा दाम में गिर गया है। इसका परिणाम यह होगा कि मूल्य-सूची में तो बहुत भेद नहीं आवेगा जब कि उत्तमर्ण को मूल्य-सूची के अनुसार भुगतान करते हुए बहुत ही अधिक नुकसान पहुँच जायगा। समाज तथा राज्य ऊपर से इसको कितना ही न्याययुक्त प्रकट करें, परंतु भिन्न भिन्न व्यक्तियों के लिये तो यह अन्याययुक्त होगा ही। इसका अपलाप करना सर्वथा कठिन है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि अभी तक हमारे पास मूल्य का ऐसा कोई मापक नहीं है जिसके अनुसार भिन्न भिन्न व्यक्तियों को हानि-लाभ से बचाया जा सके। मूल्य संबंधी

मापक की चंचलता से कभी किसी को नुकसान पहुँचेगा और कभी किसी को लाभ। समाज या राज्य अभी तक समर्थ नहीं हैं कि मूल्य संबंधी समस्या को उचित रूप से सरल कर सकें।

गज तथा सेर को देखकर बहुत से अर्थ-तत्वज्ञों का ध्यान इस ओर गया है कि मूल्य को भी किसी ऐसे ही स्थिर मापक से क्यों न मापा जाय? परंतु ऐसा स्थिर मापक मूल्य के संबंध में कैसे प्राप्त होगा, यही स्पष्ट नहीं है। महाशय किले तो इसको असंभव समझते हैं। उन्होंने निम्नलिखित युक्तियाँ दी हैं–

(१) माँग ही मूल्य का मुख्य कारण है। माँग सदा बदलती रहती है। अतः मुद्रा का मूल्य कैसे स्थिर हो? यदि माँग-रहित पदार्थ मुद्रा के लिये चुना जाय तो वह देर तक विनिमय का माध्यम नहीं रह सकता।

(२) संपूर्ण पदार्थों के कीमत-संबंधी परिवर्तन को दिखाने-वाला मापक भिन्न भिन्न व्यक्तियों के लिये उपयोगी नहीं सिद्ध हो सकता। क्योंकि मूल्यसूची से जो मापक तैयार होता है वह भिन्न भिन्न पदार्थों के चढ़ाव उतार की मध्यमा होता है। मध्यमा किसी पदार्थ के उतार चढ़ाव को कैसे बतावे? भिन्न भिन्न पुष्पों को एकत्र कर उनसे यदि अतर निकाला जाय तो इस बात का ज्ञान सुगम नहीं रहता कि उसमें किस फूल का कितना अतर है। किसी औषध में कौन सा पदार्थ किस मात्रा में मिला है, इसको जान लेना सुगम काम नहीं है। यही

दशा मूल्य-सूची की है। वह तो औषध की तरह भिन्न भिन्न मूल्यों के योग से तैयार होती है। किसी एक या दो पदार्थ के उतार चढ़ाव से संबद्ध व्यक्तियों का न्याय उसके द्वारा करना ही महा अन्याय है।

स्थिर मापक का प्राप्त करना समाज के लिये कहाँ तक हितकर होगा, अभी तक यही स्पष्ट नहीं है। क्योंकि ऐसे मापक के द्वारा प्रायः उत्पादकों तथा व्यवसायियों को ही लाभ पहुँचेगा। श्रमियों को तो इससे नुकसान ही नुकसान है। स्थिर मापक के द्वारा श्रमियों की भृति तो घटाई जायगी और व्यवसायियों को अधिक पदार्थ दिए जायँगे। यह क्यों? यह इसी लिये कि व्यावसायिक पदार्थों का दाम लड़ाई से पहले क्रमशः घट रहा था और श्रमियों की भृति बढ़ रही थी। स्थिर मापक समाज में स्थिरता लाने के लिये भृति को कम और पदार्थों के रूप में व्यवसायियों को अधिक लाभ देगा। यह कहाँ तक इष्ट है, इस पर सभी विचारक विचार कर सकते हैं।

उल्लिखित संदर्भ से स्पष्ट है कि स्थिर मापक की समाज को कुछ भी जरूरत नहीं है। समाज को तो ऐसा मापक चाहिए जो भिन्न भिन्न श्रेणी की सामाजिक स्थिति के अनुसार लेन देन तथा पारस्परिक व्यवहार का न्याययुक्त साधन बन सके। प्रश्न जो कुछ है वह यही है कि अधमर्ण किस मापक के द्वारा अपने ऋण का संशोधन करें? ऋण-संशोधन अभी तक समान धन में या समान पदार्थ में ही

होता रहा है। उपयोगिता या सीमांतिक उपयोगिता आदि में ऋण संशोधन सुगम काम नहीं है; क्योंकि दोनों का ही आधार मानसिक संतोष पर है जो सब व्यक्तियों में समान नहीं है । श्रम को भी मापक नहीं माना जा सकता क्योंकि समय समय पर वह भी बदलता रहता है। उसकी कार्य्य-क्षमता घटती बढ़ती रहती है। मानसिक आमोद, शारीरिक पुष्टि, उपयोगिता तथा श्रम में से एक के मापक मानने में दूसरे का न्याययुक्त विभाग नहीं होता, इसका ज्ञान निम्न-लिखित सूची से उत्तम विधि पर हो सकता है।

ऋणादान का समय

द्रव्यसंख्या	शारीरिक पुष्टि	मानसिक आमोद	उपयोगिता	श्रम
१···	४·००···	३·००···	७·००···	३·या ३·०० या ३·००
२···	३·८०···	२·७५···	६·५५···	३·या २·६० या ३·०१
३···	३·६०···	२·५०···	६·१०···	३·या २·८० या ३·०२
४···	३·४०···	२·००···	५·४०···	३·या २·७५ या ३·०३
५···	३·२०···	१·६०···	५·१०···	३·या २·७० या ३·०४

ऋण-संशोधन का समय

द्रव्यसंख्या	शारीरिक पुष्टि	मानसिक आमोद	उपयोगिता	श्रम
१···	४·००···	२·००···	६·००···	

		१·८०···	५·६०···	
२···	३·८०···	१·५०···	५·१५···	पूर्ववत् या
३···	३·६५···	०·६०···	४·३५···	कुछ कम या
४···	३·४५···	०·७०···	३·६५···	कुछ अधिक
५···	३·२५···	०·३५···	३·४०···	
६···	३·०५···	०·२०···	२·६५···	
७···	२·७५···	०·०० ···	२·७०···	
८···	२·७०···	०·७५···	१·६०···	
६···	२·६५···	१·००···	१·६०···	
१०···	२·६०···			

कल्पना करो कि ऋण में चार पदार्थ लिए गए। प्रथम सूची के अनुसार अधमर्ण को २५·५ कुल उपयोगिता, कुछ दिनों का श्रम, शारीरिक पुष्टि तथा मानसिक आमोद प्राप्त हुआ। समयांतर में यदि सामाजिक तथा आर्थिक परिस्थिति के कारण पदार्थों का दाम गिर जाय, जैसा कि द्वितीय सूची से स्पष्ट है, तो अधमर्ण को उत्तमर्ण को समान मूल्य या समान धन लौटाने के लिये ४ पदार्थों के स्थान पर ८ पदार्थ लौटाने चाहिएँ। यदि श्रम या उपयोगिता में ऋण चुकता करना हो तो भी पूर्वापेक्षा भिन्न मात्रा में ही उसको ऋण अदा करना पड़ेगा। उल्लिखित संदर्भ से जो कुछ सिद्ध होता है, वह यही है भिन्न भिन्न मापकों के अनुसार ऋण-संशोधन करते हुए भिन्न भिन्न राशि में ही उपयोगिता, श्रम या द्रव्य देने पड़ते हैं। ऋण में जितना धन लिया है, उतना ही उत्तमर्ण

को कैसे दिया जाय, यह समस्या पूर्ववत् ज्यों की त्यों बनी रहती है।

४—मापक का वर्गीकरण

मापक अनेक विधि के हैं जिनमें से प्रसिद्ध प्रसिद्ध मापकों के नाम इस प्रकार हैं—

(१) द्रव्य-मापक (The Commodity Standard)
(२) श्रम-मापक (The Labour Standard)
(३) कष्ट-मापक (The Disutility Standard)
(४) सीमांतिक उपयोगिता-मापक (The Marginal Utility Standard)
(५) उपयोगिता-मापक (The Total Utility Standard)
(६) क्रेताऽवशेष-मापक (The Purchaser's Surplus Standard)

इनमें से अब क्रमशः एक एक मापक पर प्रकाश डाला जायगा।

(१)

द्रव्यमापक (The Commodity Standard)

द्रव्यमापक के अनुसार अधमर्णों को उसी ढंग का पदार्थ लौटाना पड़ता है जिस ढंग का पदार्थ उन्होंने ग्रहण किया हो। सिद्धांत यह है कि गृहीत धन के तुल्य धन ही अधमर्ण क

लौटाना चाहिए। इसी को उन्नत रूप देकर यह सिद्धांत निकाला गया है कि अधमर्ण तत्सदृश पदार्थ भी लौटा सकता है। इस सिद्धांत में त्रुटि यह है कि यह पदार्थों की समानता को ही देखता है, उनकी उपयोगिता तथा उत्पत्ति-व्यय की ओर इसका कुछ भी ध्यान नहीं है। भारत में क्रमशः मँहगी बढ़ी है। कच्चे माल का दाम बहुत ही अधिक चढ़ गया है। लड़ाई से पहले जिस अधमर्ण ने १०० धोतियाँ ली थीं, लड़ाई के बाद भी यदि वह १०० धोतियाँ ही लौटावे तो यह कभी नहीं कहा जा सकता है कि उसने ऋण उतारने में समान पदार्थ दे दिया। लड़ाई से पहले १०० धोतियों का उत्पत्ति-व्यय यदि २०० रुपया था, तो लड़ाई के बाद उन्हीं का उत्पत्ति-व्यय ४०० से भी अधिक पहुँच गया। इस दशा में समान धोतियों में ऋण उतारने का तात्पर्य्य दुगुनी धोतियों में ऋण उतारना हुआ।

मुद्रा में ऋण उतारने में भी वही दोष है जो पदार्थों में ऋण उतारने का है। मुद्रा भी एक द्रव्य है। द्रव्यमापक के अनुसार जितनी मुद्रा उधार ली गई हो, उतनी ही मुद्रा में ऋण उतारना चाहिए। मुद्रा की क्रय-शक्ति पदार्थों के भाव के साथ ही साथ घटती बढ़ती रहती है। लड़ाई से पहले १०० रुपयों का जो महत्व था, लड़ाई के बाद उसका वह महत्व नहीं रहा। पहले उससे जितना पदार्थ आता था, लड़ाई के बाद उसका आधा भी पदार्थ उससे नहीं आने लगा। चंद्रगुप्त

मौर्य्य के समय में राजकीय कवियों तथा कलकूरों की तनखाह ८३ गोरखपुरी पैसा था, परंतु आजकल ८३ पैसों का कुछ भी मूल्य नहीं। उस समय एक पैसे में १ मन के लगभग अनाज आता था जब कि इतना अनाज आजकल सात या आठ रुपयों में आता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि मुद्रारूपी द्रव्य में भी ऋण उतारना समानता सिद्धांत के अनुकूल नहीं कहा जा सकता।

बहुत से अर्थ-शास्त्रज्ञों का मत है कि गेहूँ को मापक मानना चाहिए। इसका मुख्य कारण यह है कि इंग्लैंड में चिरकाल तक गेहूँ की कीमत में भेद नहीं आया। वर्त्तमान गमनागमन के साधनों के आविष्कार से पूर्व गेहूँ की कीमत किसी हद तक स्थिर थी। आडम स्मिथ ने लिखा है कि "संपत्ति तथा सभ्यता की वृद्धि के साथ साथ गेहूँ की कीमत में कभी भेद नहीं पड़ा।" महाशय फ्रायर ने इस ओर यत्न किया और स्काट्लैंड के भिन्न भिन्न गेहूँओं की कीमतों की मूल्यसूची को प्रकाशित किया। एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका में लिखा है कि स्काट्लैंड में बहुत से लेन देन में फ्रायर् की गेहूँ की कीमतों के अनुसार ही काम किया जाता है।

गेहूँ को मापक बनाना कहाँ तक भ्रांतिपूर्ण है, इसका ज्ञान पिछले बीस सालों की गेहूँ की कीमतों से ही प्राप्त किया जा सकता है। अन्य पदार्थों के सदृश ही पिछले सालों से गेहूँ की कीमतें बदलती रही हैं। भारत में तो गेहूँ तबसे बहुत ही मँहगा हो गया जबसे वह युरोप भेजा जाना शुरू हुआ। यह पूर्व

ही लिखा जा चुका है कि चंद्रगुप्त के समय में गेहूँ पैसे का एक मन के लगभग था। विक्रमादित्य के समय गेहूँ पैसे का पन्द्रह सेर से बीस सेर तक जा पहुँचा। बारहवीं सदी में गेहूँ पैसे का ५ सेर से ६ सेर तक था। मुसलमानी जमाने में गेहूँ और भी अधिक मँहगा हो गया। आजकल रुपए में ५ सेर से ६ सेर तक गेहूँ मिलता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि गेहूँ को मापक बनाना कभी संतोषप्रद नहीं हो सकता।

द्रव्यमापक के दोषों को देखकर बहुत से अर्थशास्त्रज्ञों ने अनेक द्रव्यमापक विधि पर समाज के व्यवहार को प्रचलित करना उचित समझा है। इस विधि के पक्ष में पत्र-संपादकों से लेकर बहुत से व्यापारी-व्यवसायी तक हैं। श्रमियों में भी इसके पक्षपोषकों की कमी नहीं है।

अनेक द्रव्यमापक विधि के अनुसार बहुत से पदार्थों की मूल्यसूची तैयार करनी चाहिए और उसका मापक नियत करना चाहिए। इसी को आंग्ल भाषा में टेबुलर स्टैंडर्ड (Tabular Standard) के नाम से पुकारा जाता है। मूल्यसूची के सदृश ही टेबुलर स्टैंडर्ड में विशेष विशेष प्रकार के पदार्थों की कीमतों की मध्यमा ली जाती है और उसी को लेन देन का आधार रखा जाता है। ऐसी सूची एक तो उस समय तैयार की जाती है जब कि ऋण लिया जाता है और एक सूची तब तैयार की जाती है जब ऋण उतारना होता है। यदि पहली सूची के समय कीमतों की मध्यमा १०० है, तो ऋण उतारने

के समय में भी उसको १०० ही देना पड़ेगा। विषय को समझने के लिये कल्पना करो कि पहली जनवरी को देवदत्त ने १० पदार्थ उधार लिए जिनका मूल्य १००० रुपया है। अगले साल यदि पहली जनवरी को उन दस पदार्थों का पूर्व मात्रा में ६०० रुपया मूल्य होता है, तो देवदत्त टेबुलर स्टैंडर्ड के अनुसार दूकानदार या उत्तमर्ण को ६०० रुपया ही देगा।

टेबुलर स्टैंडर्ड का आधार प्रामाणिक कीमतों पर है। प्रामाणिक कीमतों के लिये आजकल कई देशों में राजकीय कर्मचारी नियुक्त हैं जो समय समय पर कीमतों को प्रकाशित करते रहते हैं। यदि टेबुलर स्टैंडर्ड की सूची में किसी एक समय के सभी पदार्थ सम्मिलित हैं जो खरीदे तथा बेचे गए हों तो उनके द्वारा बनाई गई मूल्यसूची को मिश्रित द्रव्यसूची के नाम से पुकारा जाता है। इस सूची का लाभ यह दिखाया जाता है कि इसके सहारे जो मनुष्य जितना धन ऋण में लेगा, उतना ही धन ऋण में उतारेगा। ऊपर से देखने में तो यह विधि न्याययुक्त प्रकट होती है; परंतु वस्तुतः यह भी न्यायपूर्ण नहीं है। पूर्व विधियों के तुल्य यह भी दोषपूर्ण है। आय प्राप्त करने में जो कठिनाइयाँ हैं, उनकी इसमें उपेक्षा की जाती है। अनेक द्रव्य-विधि आय के साधनों की अपेक्षा व्यय को ही महत्व देती है।

समाज के भिन्न भिन्न व्यक्तियों के जीवन-निर्वाह के नियमों को यदि जाना जाय तो यह स्पष्ट है कि कीमतों की कमी से

लोगों का जीवन-निर्वाह उत्तम हो जाता है। सस्ती में पूर्वापेक्षया पदार्थों का प्रयोग बढ़ जाता है। इसके विपरीत मँहगी में पदार्थों का प्रयोग घट जाता है। यदि अनेक द्रव्यविधि के अनुसार पदार्थों में ही ऋण का संशोधन किया जाय और पूर्व मात्रा में ही पदार्थ लौटाए जायँ तो भी समान धन लौटाया गया, यह नहीं कहा जा सकता। सस्ती में उत्तमर्णों के लिये पदार्थों की सीमांतिक उपयोगिता (Marginal Utility) कम होती है और मँहगी में अधिक। सीमांतिक उपयोगिता के विचार से समान राशि में लौटाया हुआ पदार्थ उत्तमर्ण के लिये मँहगी के दिनों में अधिक और सस्ती के दिनों में पूर्वापेक्षया न्यून होगा।

महाशय एल० एस० मेरियम ने भी अनेक द्रव्यविधि को न्याययुक्त नहीं प्रकट किया है। बहुत से पदार्थ देखने में समान होते हैं, परंतु समय के गुजरने के साथ ही साथ उनका महत्व पूर्वापेक्षया बहुत ही घट जाता है। पदार्थ दो प्रकार के होते हैं। एक तो केवल शरीर के पोषण के लिये ही उपयुक्त हैं और दूसरे मानसिक चंचलता के लिये संतोपजनक हैं। फैशन संबंधी वस्तुओं को दूसरी श्रेणी का ही समझना चाहिए। पाँच साल पहले जिस ढंग की बाइसिकल फैशन में थी, बहुत संभव है कि पाँच साल के बाद उस ढंग की बाइसिकल का समाज में सर्वथा ही प्रयोग न रहे। अनेक द्रव्यविधि के अनुसार पुराने फैशन की बाइसिकल लौटाते हुए देखने में तो समान धन से

ऋण-संशोधन हुआ; परंतु वस्तुतः एक सार्थक, समाजोपयोगी, सीमांतिक उपयोगिता-संपन्न पदार्थ के स्थान पर निरर्थक, अनुपयोगी, सीमांतिक उपयोगिता-शून्य पदार्थ लौटाया गया और इस प्रकार उत्तमर्ण को कुछ लाभ मिलने के स्थान पर हानि पहुँची।

सबसे वड़ी वात तो यह है कि वहियों का हिसाव किताव अनेक द्रव्यविधि के अनुसार नहीं चल सकता। अर्वाचीन औद्योगिक जगत् में लेनदेन का समय वहुत ही परिमित है। अल्प काल के लिये ही ऋण लिया और दिया जाता है। अनेक द्रव्यविधि के अनुसार काम करना कुछ भी सुगम नहीं है। वहियों का हिसाव मूल्यसूची पर रखना वहुत ही कठिन है। यही कारण है कि अभी तक इस विधि को सव व्यवहारों का आधार नहीं नाया वगया।

(२)

श्रम-मापक (The Labortime Standard)

बहुत से अर्थशास्त्रज्ञों का विचार है कि श्रम को चिर-कालीन लेनदेन का आधार वनाना चाहिए। श्रममापक विधि के निम्नलिखित तीन रूप हैं—

(क) श्रम के समय को मापक माना जाय = श्रम-समय मापक।

(ख) श्रमसंबंधी व्यय को मापक रखा जाय = श्रम-व्यय मापक।

(ग) सीमांतिक श्रम की अनुपयोगिता को मापक बनाया जाय = श्रम-अनुपयोगिता मापक।

श्रम-समय मापक विधि के पक्ष में समष्टिवादी संप्रदाय के लोग ही विशेष रूप से हैं। उनका विचार है कि मूल्य का मुख्य कारण श्रम ही है। एक सदृश समय में बने पदार्थ एक दूसरे के समान हैं, अतः उनमें लेनदेन का संशोधन न्याययुक्त है। गंभीर विचार करने पर इस सिद्धांत के दोष स्पष्ट हो सकते हैं। एक सदृश समय देते हुए भी श्रम के भेद से पदार्थ भिन्न भिन्न हो सकते हैं। रेशमी साड़ी तथा सूती साड़ी के बुनने में समान समय लग सकता है, परंतु श्रम के भेद से दोनों चीज़ें भिन्न भिन्न हैं। सूती साड़ियों में भी श्रम के भेद से समान समय में बनी साड़ियाँ भिन्न भिन्न हो सकती हैं। समय के गुजरने के साथ साथ श्रम की कार्य्यक्षमता बदलती जाती है। थोड़े ही समय में पूर्वापेक्षया बहुत ही अधिक काम हो जाता है। इस दशा में श्रम के समय को मापक बनाना किसी प्रकार ठीक नहीं हो सकता। कलों के निकलने से और छोटी छोटी चीज़ों के लिये भी वैज्ञानिक आविष्कारों का सहारा लेने से श्रम-मापक-विधि सर्वथा ही निरर्थक हो गई है।

श्रम-समयमापक विधि के दोषों को दूर करने के उद्देश्य

से बहुत से अर्थशास्त्रज्ञों ने श्रम-व्यय मापक विधि (The Labor-Cost Standard) के अनुसार काम करने का निर्देश किया है। लियोनार्ड कोर्ट ने नाइन्टीन्थ सेंचूरी नामक पत्र (अप्रैल १८९३) में लिखा है कि—"श्रम के समय का बदला श्रम के समय से चुकता करने के पक्ष में हम नहीं हैं। हम तो श्रम को श्रम से और श्रम के कष्ट को श्रम के कष्ट से चुकता करने को ही पसंद करते हैं।" इसी प्रकार आडम स्मिथ ने एक स्थान पर लिखा है कि "एक अपठित अशिक्षित श्रमी का कार्य्य सदियों तक सदृश बना रहता है; अतः उसी को मूल्य का मापक बनाना चाहिए"। इस वाक्य से आडम स्मिथ का मतलब श्रमजन्य कष्ट से है, न कि श्रमी की दैनिक भृति से। यदि नीच जाति के लोगों का शरीर सभी सदियों में एक सदृश हृष्टपुष्ट रहा हो तब तो आडम स्मिथ का मापक किसी अंश तक ठीक हो सकता है। परंतु इतिहास इस बात को पुष्ट नहीं करता। अति प्राचीन काल में शारीरिक श्रम किसी हद तक मापक हो सकता था, परंतु आजकल यह बात संभव नहीं है। अपठित तथा अशिक्षित श्रमियों में भी कार्य्यक्षमता भिन्न भिन्न होती है। कलों के आविष्कार से कार्य्यक्षमता की भिन्नता और भी अधिक उग्र हो गई है। मशीन से घास खोदना तथा कूएँ से पानी निकालना और बात है और कूएँ से रस्सी से पानी खींचना तथा खुर्पे से घास खोदना भिन्न बात है। दोनों की एक दूसरे से तुलना नहीं की जा सकती।

(३)

कष्ट-मापक (The Disutility Standard)

प्रोफेसर जे. बी. क्लार्क का मत है कि श्रम-व्यय के कष्ट को ही मापक बनाया जाय। परंतु कठिनाई तो यह है कि कार्य्य या उत्पत्ति की विधि के भेद से श्रमसंबंधी कष्ट भी भिन्न भिन्न हो जाता है। एक बटन दबाकर बिजली की शक्ति से बड़े बड़े लकड़ों को क्षण भर में काट डालना और बात है और दिन भर आरा चलाकर थोड़ी सी लकड़ी काटना दूसरी बात है। क्या दोनों कार्य्यों में श्रमसंबंधी कष्ट कभी समान हो सकता है? पहले में एकमात्र बटन दबाना तथा बटन का छोड़ना है और दूसरे में दिन भर आरा चलाकर पसीने पसीने हो जाना है।

आज से पाँच सौ साल पहले एक धोती के बुनने में या एक घड़ी के बनाने में जो मेहनत थी, वह आजकल नहीं है। समुद्रयात्रा करनेवाले इस बात का अनुभव कर सकते हैं कि भाप के द्वारा जहाज़ों के चलने से चक्का चलाने का कष्ट किस प्रकार कम हो गया है। सारांश यह है कि उन्नति तथा आविष्कार के कारण एक ही काम के करने में पूर्वापेक्षया कष्ट बहुत कम हो गया है। इस दशा में श्रमजन्य अनुपयोगिता या कष्ट को किस प्रकार मापक माना जा सकता है?

एक सदृश आर्थिक परिस्थिति में रहनेवाले लोगों में कष्ट-मापक विधि पर काम किया जा सकता है। हाथ से संपूर्ण उत्पत्ति करनेवाले समाज में घंटों को लेनदेन का मापक बनाया

जा सकता है। कठिनाई जो कुछ है वह यही है कि आजकल किसी राष्ट्र में चिरकाल तक एक सदृश परिस्थिति नहीं रह सकती। कलों का प्रचार दिन पर दिन सभी देशों में बढ़ता जाता है।

फैशन एक सदृश पदार्थों को भी समय के गुजरने के साथ साथ भिन्न भिन्न महत्व का कर देता है, इस पर पहले प्रकाश डाला जा चुका है। घंटों के बराबर रहते हुए और एक सदृश पदार्थ के बनते हुए भी एक समय में एक पदार्थ का जो महत्व होता है, दूसरे समय में उस पदार्थ का वह महत्व नहीं रहता। यही कारण है कि कष्टमापक विधि का अवलंबन करना निरर्थक है।

(४)

सीमांतिक उपयोगितामापक

(The Marginal Utility Standard)

पदार्थों की सीमांतिक उपयोगिता जिस प्रकार बदले, उसी प्रकार उनके लेनदेन का संशोधन करना चाहिए। इस विधि में सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि सीमांतिक उपयोगिता सब व्यक्तियों के लिये समान नहीं होती। समाज के खयाल से सीमांतिक उपयोगिता में जो परिवर्तन होते हैं, बहुत संभव है कि वह उत्तमर्णों तथा अधमर्णों के अनुकूल न हों।

(५)

उपयोगितामापक (The Total Utility Standard)

उपयोगितामापक विधि के सबसे बड़े पक्षपोषक प्रोफेसर रास हैं। इस विधि के अनुसार अधमर्ण को श्रम में या द्रव्य में ऋण का संशोधन न करके उपयोगिता में संशोधन करना चाहिए। उपयोगिता का तात्पर्य्य भी बाह्य उपयोगिता ही है। ज्यों ज्यों व्यावसायिक उन्नति होती जाती है, त्यों त्यों कुछ अधिक पदार्थ देकर ऋण का संशोधन करना चाहिए। उत्तमर्ण को कुछ अधिक पदार्थ देने के लिये इसी लिये लिखा है कि उन्नति के अंश का उसको भी कुछ भाग मिले। सस्ती के दिनों में उसने जो धन ऋण में दिया है, अधिक पदार्थ में ऋण का धन मिलने पर उसका मँहगी का नुकसान भी किसी सीमा तक कम हो जायगा।

उपयोगितामापक विधि भी पूर्व मापकों के सदृश ही दोषपूर्ण है। संक्षेप से इसके कुछ दोष इस प्रकार दिखाए जा सकते हैं—

(क) कितना अधिक पदार्थ दिया जाय, इसकी राशि के नियत न होने से उपयोगितामापक विधि अपूर्ण ही है।

(ख) यदि कुछ अधिक पदार्थ दिया भी जाय तो भी अधमर्ण तथा उत्तमर्ण व्यावसायिक उन्नति से पूरी तरह लाभ नहीं उठा सकते।

(६)

क्रेताऽवशेषमापक विधि

(The Purchser's Surplus Satndard)

क्रेता को धन व्यय करने से एक विशेष प्रकार का सुख प्राप्त होता है। धन का व्यय करनेवालों की एक श्रेणी बनाई जा सकती है जो उनके सुखों के तारतम्य की द्योतक हो। सीमांतिक क्रेता वह है जो जीवनरक्षा के अतिरिक्त अन्य कार्यों में धनव्यय करने में असमर्थ हो। वस्तुतः पदार्थों की कीमतों के निश्चित करने में वही एकमात्र कारण है। सीमांतिक क्रेता को व्यय से न कुछ विशेष लाभ प्राप्त होता है और न कुछ विशेष हानि। अन्य क्रेताओं की यह दशा नहीं है। वह लोग व्ययजन्य सुखों के तारतम्य को सामने रखकर खरीदते हैं और किसी हद तक इस कार्य्य में स्वतंत्र हैं। सुख तथा स्वातंत्र्य के आधार पर उनकी एक श्रेणी बनाई जा सकती है।

एक सदृश धन-मात्रा से निर्धन तथा धनिक को जो भिन्न भिन्न प्रकार का सुख प्राप्त होता है, उसको समाज के सुख का मापक बनाया जा सकता है। लेनदेन में इससे काम लेने के लिये पदार्थों की एक विशेष मात्रा को आधार बनाना चाहिए और उस मात्रा में लेनदेन का नियम करना चाहिए। कीमतों के परिवर्त्तन से समान धन-राशि के द्वारा पदार्थों के खरीदने

में पदार्थ की राशि में जो ह्रास तथा वृद्धि हो, उसको सामाजिक तत्वों का परिणाम समझकर दोनों में ही बाँट देना चाहिए।

विषय को समझने के लिये कल्पना करो कि इड, फ ज
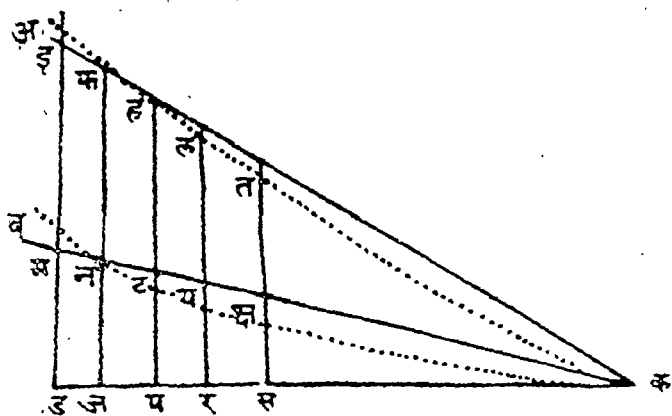
आदि एक विशेष धन-मात्रा के द्वारा प्राप्त सुख को सूचित करते हैं। यदि यह विशेष धन-मात्रा एक रुपया हो तो स्पष्ट है कि धनिक तथा निर्धन के लिये इसकी उपयोगिता समान नहीं हो सकती। कीमतों के चढ़ने से बहुतों को कष्ट पहुँचेगा और जितनी उपयोगिता उनको एक रुपए से प्राप्त होती थी, वह अब न प्राप्त होगी। कल्पना करो कि म ड, न ज, ट प आदि उपयोगिताएँ पूर्वापेक्षया कम हो जाती हैं। क्रेताओं को कीमतों के चढ़ने से केवल म इ, न फ आदि उपयोगिता ही प्राप्त होगी। यदि व क तथा अ क सीधी रेखाएँ हों तो इ ड तथा फ ज में जो

अनुपात है वही अनुपात इ म तथा फ न में होगा। परंतु वस्तुतः च क तथा अ क सीधी रेखा में न होकर चाप की तरह होते हैं जैसा कि बिंदुमय रेखा से सूचित है। इसका परिणाम यह है कि कीमतों के अनुसार अवशिष्ट उपयोगिता में परिवर्त्तन नहीं होते। इसी से यह भी स्पष्ट है कि क्रेताऽवशेष मापक विधि भी कीमतों के परिवर्त्तनों से उत्पन्न लाभों तथा हानियों को दूरकर समाज को स्थिरमापक देने में असमर्थ है। कीमतों के कारण उत्पन्न सामाजिक विक्षोभ को आजकल मूल्य-सूची के द्वारा दूर करने का यत्न किया जाता है और भृति तथा लाभ से संबद्ध भिन्न भिन्न श्रेणियों के संबंधों को अस्थिर तथा असंतोषमय होने से रोकने की चेष्टा की जाती है। परंतु वह भी कितनी दोषपूर्ण है, इस पर पूर्व परिच्छेद में प्रकाश डाला जा चुका है। इस दशा में क्या किया जाय? किस तरह स्थिर-मापक प्राप्त किया जाय? यही समस्या है जिसपर गंभीर अन्वेषण की नितांत आवश्यकता है।

---o---

सातवाँ परिच्छेद

मूल्य-संबंधी परिवर्तनों को प्रभावित करनेवाले तत्व

मुद्रा के मूल्य की अस्थिरता अधिक चिन्ताजनक है। उत्तमर्णों, अधमर्णों, व्यापारियों, व्यवसायियों तथा श्रमियों की आर्थिक स्थिति में इसका जो प्रभाव है, वह कभी भुलाया नहीं जा सकता। सामाजिक विक्षोभ में भी इसी को एक प्रधान कारण समझा जाता है। दृष्टांत स्वरूप कल्पना कीजिए कि रेल्वे कर्मचारियों का मासिक वेतन १०० रुपए से २०० रुपए तक है और उनका खर्च इस वेतन में बड़ी कठिनाई से चलता है। ऐसी दशा में किसी महायुद्ध के कारण मँहगी द्विगुण रूप धारण कर ले और कर्मचारियों का मासिक वेतन पूर्ववत् बना रहे तो क्या अशांति किसी तरीके से भी रुक सकती है? विशेषतः उस दशा में जब कि रेलवे कर्मचारियों को यह बात पूर्ण रूप में मालूम पड़ जाय कि मँहगी से रेलवे कंपनी के हिस्सेदारों को पच्चीस सैकड़े लाभ मिला है और बहुत सा धन स्थिर पूँजी बना दिया गया। स्वाभाविक ही है कि वह असंतोष तथा पारिवारिक खर्चों से कष्ट पाकर वेतन बढ़ाने के लिये कंपनी के स्वामियों को लिखें। परंतु वह लोग अपने आप से तनख्वाह कब बढ़ाने लगे। इसका परिणाम यह

होगा कि रेलवे यूनियन बन जायगी और तनखाह बढ़ाने की खातिर हड़ताल की जायगी। यही बात सभी व्यवसायों तथा आफिसों में होगी। हड़ताल के कारण सामाजिक संघटन एक नया रूप धारण कर लेगा; और यह भी बहुत संभव है कि कंपनी के मालिक अपने ही कर्मचारियों से चिढ़ जायँ और हड़ताल का बदला समय पड़ने पर द्वारावरोध से निकालें।

श्रमियों के सदृश ही कीमतों का परिवर्तन व्यापारियों तथा व्यावसायियों के लिये हानिकर हो सकता है। व्यापारी तथा व्यवसायी प्रायः मँहगी को पसंद करते हैं। कीमतों के चढ़ने से उनको अपने कम उत्पत्ति-व्ययवाले पदार्थ का अधिक दाम मिलता है और इस प्रकार उनकी अधिक आमदनी होती है। व्यापारी भी सस्ती को बहुत पसंद नहीं करते। पिछले महा-युद्ध में जर्मनी से रंग का आना बंद होते ही रंग बहुत मँहगा हो गया और रंग के व्यापारियों ने लाखों रुपए कुछ ही महीनों में कमा लिए।

उत्तमर्णों तथा अधमर्णों पर भी कीमतों का विशेष प्रभाव पड़ता है। प्रायः आजकल व्यापारी लोग उधार लेकर ही कारोबार करते हैं। जब तक कीमतें चढ़ती रहती हैं, तब तक उनको किसी ढंग की चिंता का सामना नहीं करना पड़ता। परंतु ज्योंही कीमतें गिरनी शुरू हुईं त्योंही स्थिति बदल जाती है। ऋण का रुपया चुकता करना कठिन हो जाता है।

युरोप के इतिहास के विशेष अध्ययन से मालूम पड़ता है

कि मुद्रा के मूल्य को स्थिर करने के लिये आंदोलन सबसे पहले ऋणियों ने ही शुरू किया। उसके बाद श्रमियों ने इस आंदोलन में भाग लिया। इसका मुख्य कारण यही है कि क़ीमतें दिन पर दिन चढ़ती जाती हैं जब कि श्रमियों तथा वेतनभोगियों का मासिक वेतन पूर्ववत् स्थिर बना रहता है। क़ीमतों के चढ़ने से व्यापारियों, व्यवसायियों तथा कृषि-जीवियों को विशेष रूप से आर्थिक लाभ होता है।

श्रमियों, उत्तमर्णों, अधमर्णों, व्यापारियों तथा व्यवसायियों में क़ीमतों के चढ़ने से श्रमियों को विशेष रूप से नुकसान होता है। श्रमी लोग क़ीमतों की स्थिरता को ही अपने लिये हितकर समझते हैं; क्योंकि उनका मौद्रिक वेतन प्रायः स्थिर रहता है। कभी कभी अधमर्णों की दृष्टि से भी मुद्रा के मूल्य को स्थिर करने के लिये कहा जाता है। परंतु इस बात पर गंभीर विचार नहीं किया जाता कि अधमर्ण भी एक प्रकार के नहीं हैं। बहुत से लोग व्यापार-व्यवसाय बढ़ाने के लिये धन उधार लेते हैं और कुछ लोग घरेलू खर्चों को पूरा करने के लिये कर्ज़ लेते हैं। देखने में दोनों ही कर्ज़दार हैं, परंतु दोनों की स्थिति समान नहीं कही जा सकती। क्योंकि एक मँहगी से लाभ उठाता है और दूसरा नुकसान। विवाह आदि के लिये कर्ज़ लेनेवाला यदि स्थिर वेतनभोगी हो, जैसा कि प्रायः भारत में होता है, तो मँहगी से उसके घरेलू खर्चों में बहुत ही अधिक बढ़ जाने से कर्ज़ का चुकता करना उसके लिये सुगम

काम नहीं रहता। परंतु व्यापार व्यवसाय के लिये कर्ज लेनेवालों की यह स्थिति नहीं होती। उनको मँहगी से लाभ पहुँचता है। मँहगी से उनके कम दाम के खरीदे पदार्थों का दाम चढ़ जाता है और उनको पूर्वापेक्षया अधिक धन मिलता है। इसी ढंग का भेद उत्तमर्णों में है। उत्तमर्णों में जो लोग एकमात्र सूद पर निर्वाह करते हैं, मँहगी से उनको बहुधा हानि पहुँचती है। ब्याज तो उनको उतना ही मिलता रहता है जब कि उनके घरेलू खर्च पूर्वापेक्षया बहुत ही अधिक बढ़ जाते हैं। परंतु उनका इस ढंग का नुकसान क्षणिक ही होता है; क्योंकि मँहगी के साथ ही साथ ब्याज की दर बढ़ जाती है, जैसा कि आगे चलकर दिखाया जायगा।

इस प्रकार स्पष्ट है कि श्रमियों तथा अधमर्णों में कीमतों के चढ़ने से श्रमियों को ही विशेष नुकसान पहुँचता है। अधमर्णों में भी प्रायः स्थिर वेतनभोगी अधमर्ण ही कष्ट पाते हैं। व्यापारी-व्यवसायी अधमर्णों को इससे कुछ भी कष्ट नहीं होता; क्योंकि मँहगी से उनको अपने व्यापारीय या व्यावसायिक पदार्थ का पूर्वापेक्षया बहुत ही अधिक दाम मिलता है।

अभी लिखा जा चुका है कि उत्पादक व्यापारी-व्यवसायी अधमर्णों को मँहगी से हानि नहीं पहुँचती। परंतु कुछ एक ऐसे भी अधमर्ण हैं जिनको कीमतों के गिरने से भी नुकसान नहीं पहुँचता। कीमतों के गिरने से देखने में उनको पदार्थों में अधिक ऋण देना पड़ता है, परंतु उत्पत्ति-व्यय के कम हो

जाने से यह नुकसान नाममात्र को ही रह जाता है। यदि वह स्थिर आमदनीवाले हों तो कीमतों के गिरने से वह मास में पूर्वापेक्षया अधिक धन बचा सकेंगे और इस प्रकार अपने पुराने ऋण के संशोधन में अधिक समर्थ हो जायँगे। सारांश यह है कि चाहे कीमतें चढ़ें और चाहे उतरें, अधमर्णों को विशेष हानि नहीं पहुँचती। जब इस बात को सामने रखा जाता है कि बहुसंख्या में लोग व्यापार-व्यवसाय के उद्देश्य से ही ऋण लेते हैं, तब तो अधमर्णों का मूल्य के मापक को स्थिर करनेवाला आंदोलन निरर्थक तथा निःसार मालूम पड़ता है।

यह पहले ही लिखा जा चुका है कि आजकल कर्ज दरिद्र के स्थान पर अमीर बनने के लिये लिया जाता है। व्यापारी लोग अपना व्यापार व्यवसाय बढ़ाने के लिये उधार लेते हैं; कृषक अपनी जमीन धरोहर के रूप में रखकर धन उधार लेते हैं, ताकि उधार धन को कृषि में लगाकर आमदनी करें। सारांश यह है कि आजकल लोग दरिद्रता या जरूरत के कारण ऋणी नहीं हैं अपितु अमीरी के कारण ऋणी हैं। कीमतों की अस्थिरता से यदि किसी के ऋण बढ़ जाते हैं, तो उससे कुछ भी विशेष नुकसान नहीं पहुँचता। इसमें संदेह भी नहीं है कि उसको सोचा हुआ लाभ नहीं प्राप्त होता।

आजकल व्यापारी व्यवसायी अल्पकाल के लिये ही ऋण लेते हैं। मँहगी भी प्रायः धीरे धीरे होती जाती है। इससे

बहुत नुकसान नहीं पहुँचता। बैंक से ऋण तो कुछ सप्ताहों या महीनों के लिये ही लिए जाते हैं। अमेरिका में कुल ऋणों का ६० प्रतिशतक अंश ऐसे ही ऋणों का है। बैंकों के बहुत थोड़े ही ऐसे ऋण हैं जो ६ से ८ महीनों तक जाते हों। अमेरिकामें कृषि संबंधी ऋण भी अब क्षणिक ही हो रहे हैं। आज से कुछ वर्ष पहले उनका समय ४ साल से ५ साल तक था।

कीमतों के गिरने से व्यापारियों तथा व्यवसायियों को नुकसान पहुँचता है। परंतु ऋण क्षणिक तथा सामयिक होते हैं, अतः इस ढंग का नुकसान किसी एक पर नहीं पड़ता। समय के गुजरने के साथ साथ थोड़ा थोड़ा करके यह बहुत से मनुष्यों में बँट जाता है। जातीय ऋणों तथा सरकारी कर्जों के प्रलंबकालीन होने से जनता को नुकसान पहुँचता है। परन्तु चूँकि उनपर व्याज की दर कम होती है, अतः यह नुकसान भी बहुत ध्यान देने के योग्य नहीं है। दृष्टांत स्वरूप प्रामेसरी नोटों पर ३½ प्रतिशतक का व्याज सरकार देती है जब कि उसने मँहगी तथा व्याज की दर चढ़ने के साथ साथ अन्य ऋण ६ से ७ प्रतिशतक व्याज पर लिए हैं। इसका परिमाण यह है कि ३½ प्रतिशक व्याजवाले कागज का बाजारी दाम इस समय ५० से ६० के बीच में रहता है। जनता पर इस व्याज का भार तथा ऋण की अधिकता की कमी प्राकृतिक कारणों से हो गई, इसमें कुछ भी संदेह नहीं है।

सट्टे के कारण भी कीमतों के गिरने से व्यापारियों तथा व्यवसायियों का नुकसान बहुत नहीं होता। सट्टा खेलनेवाले पदार्थ की उपलब्धि तथा माँग अनुमान करते रहते हैं और अपने अनुमान से सट्टे के द्वारा उसकी कीमतों को धीरे धीरे बदलते हैं। यदि यह लोग न हों तो लोगों को कीमतों के चढ़ाव उतराव का पहले से ही ज्ञान न हो और कीमतें कभी एक दम बहुत चढ़ जायँ और कभी एक दम बहुत उतर जायँ। सट्टा खेलनेवाले कीमतों के परिवर्तन को नियमबद्ध, मन्द तथा क्रमिक बना देते हैं। इससे भी कीमतों के गिराव से ऋणियों को बहुत नुकसान नहीं पहुँचता।

प्रोफेसर इर्विंग फिशर का मत है कि व्याज की दर मुद्रा की क्रय-शक्ति के साथ ही साथ बदलती रहती है। मुद्रा की क्रय-शक्ति यदि दिन पर दिन घटती जाय तो इसका प्रभाव मुद्रा के बाजार पर पड़ेगा। बट्टे की दर मुद्रा की माँग के अनुसार चढ़ने उतरने लगेगी। अधिक माँग होने पर बट्टे की दर भी बढ़ जायगी और माँग के कम होते ही वह भी कम हो जायगी। क्षणिक तथा सामयिक ऋणों में यह बात विशेष रूप से प्रत्यक्ष है।

उत्तमर्ण बहुत श्रम से धन बटोरते हैं। ऐसे भी बहुत से सूदखोर हैं जो आत्मिक भोगविलास का तनिक भी ख़याल न करके दिन रात धन अर्जन में ही चिंतित रहते हैं। स्वाभाविक ही है कि दूसरों को प्रयोग करने के लिये धन देने से

पूर्व वह इस बात का भी ध्यान रखें कि उनको पुराने श्रम तथा तपस्या का भी कुछ पुरस्कार अवश्य ही मिले। मुद्रा का मूल्य घट रहा है या बढ़ रहा है, इससे उनको क्या मतलब ? उनको तो अपनी पूरी रकम पर कुछ न कुछ पुरस्कार लेना ही है। इसी पुरस्कार का नाम मुद्रा बाजार में व्याज है। अर्थ-शास्त्रज्ञों की दृष्टि में यह बात आर्थिक सिद्धांत के प्रतिकूल हो सकती है; क्योंकि उनको तो इसी बात का खयाल होता है कि १०० मूल्यसूची पर उधार दिया हुआ १०० रुपया सात या आठ रुपए सालाना व्याज कमाते हुए कभी लाभ का कारण नहीं हो सकता, यदि मूल्यसूची १५० पर जा पहुँची हो; क्षणिक या सामयिक उधारों में प्रायः यह नियम नहीं काम करता; क्योंकि पूँजी के स्थिर होने से मुद्रा के मूल्य का परि-वर्तन व्याज के रूप में प्रकट होता है। प्रोफेसर फिशर ने अनेक प्रमाणों से यह सिद्ध किया है कि कीमतों के चढ़ने के साथ सूद की दर भी चढ़ जाती है। उन्होंने इस बात को दिखाने के लिये जो सूची दी है, वह इस प्रकार है।*

---

* "Appreciation and In trest," Amer. Ecor. Anoc. Pab. Vol XI., N. 4.P 55.-56.

कीमतों की स्थिति	१८२४ से १८३१ तक	१८३२ से १८।१ तक	१८४२ से १८५१ तक	१८५२ से १८६१ तक	१८६२ से १८७१ तक	१८७२ से १८८१ तक	१८८२ से १८६१ तक
लंडन—मँहगी	= ३·८	४·४	३·६	५·४	५·१	३·७	३·०
सस्ती	= ३·२	३·२	२·६	३·०	२·६	२·५	२·५
न्यूयार्क—मँहगी	=			६·१	७·४	७·०	५·१
सस्ती	=			६·१	६·७	५·१	५·१
बर्लिन—मँहगी	=				४·६	३·७	२·७
सस्ती	=				३·४	३·२	
पेरिस—मँहगी	=					४·१	२·६
सस्ती	=					२·४	२·६
कलकत्ता—मँहगी	=					६·२	५·४
सस्ती	=					५·६	६·१
टोकियो—मँहगी	=					१२·३	१०·१
सस्ती	=					१२·०	१०·१
शंघाई—मँहगी	=						६·०
सस्ती	=						५·७

उल्लिखित इक्कीस तुलनाओं में १७ स्थान इस बात को सूचित करते हैं कि मँहगी के साथ ही साथ व्याज की मात्रा बढ़ जाती है और केवल एक स्थान इससे विपरीत नियम को प्रकट करता है। शेश तीन स्थान दोनों ही दशाओं में व्याज की दर को स्थिर दिखाते हैं। सालों की दृष्टि से सूची में लंडन ६८, न्यूयार्क ४०, वर्लिन ३०, पैरिस २०, कलकत्ता तथा टोकियो १९ तथा शंघाई ९ है। कुल मिलाकर भिन्न भिन्न देशों के २०५ वर्षों की व्याज की दर सूची में दी हुई है। इतने अधिक वर्षों का यह अनुभव कि मँहगी के साथ ही साथ व्याज की दर बढ़ती है, असत्य नहीं हो सकता। इस नियम का जो कुछ महत्व है, वह यही है कि इससे यह सिद्ध होता है कि अधमर्णों या उत्तमर्णों की आमदनी में कीमतों के चढ़ने या उतरने से कोई विशेष धक्का नहीं पहुँचता।

मूल्य-सूचियों के द्वारा ऋण संवंधी शर्तों को स्थिर रूप देना कहाँ तक हितकर होगा, इस प्रश्न का निर्णय करना सुगम काम नहीं है। यदि मूल्य-सूची के द्वारा त्रैवार्षिक लेन-देन को स्थिर रूप दिया जाय तो प्रलंबकालीन लेनदेन को किस प्रकार नियम में बाँधा जाय? ऋणी व्यापारियों को कीमतों के गिरते समय नुकसान होता है; परंतु इसका यह मतलब नहीं है कि यह नुकसान किसी सामाजिक अन्याय का परिणाम है। उनके अनुमान का ही इसमें दोष है। यदि कीमतों के गिरने को वह अपनी सूक्ष्म दृष्टि से न देख सकें और मँहगी का

अनुमान करके ऋणों को बढ़ावें और अपनी दूकान में अधिक माल भर लें तो इसमें किसका दोष है? ऐसे मौके पर ऋण का भार यदि उन पर और भी अधिक उग्र रूप धारण कर ले, तो मूल्य-सूची के द्वारा उसका संशोधन करना भारी भूल करना होगा।

उल्लिखित संपूर्ण संदर्भ का तात्पर्य्य यह है कि स्वर्ण-मुद्रा ही मूल्यों का सबसे उत्तम मापक है। निस्संदेह स्वर्ण के मूल्य में परिवर्तन होता रहता है, परंतु वह अन्य सब मापकों की अपेक्षा निर्दोष है। श्रम, वेतन, अन्न, गेहूँ आदि को मूल्यों के मापने का साधन बनाना कभी ठीक नहीं हो सकता। द्विधातवीय मुद्रा विधि का भी अवलंबन ठीक नहीं है। सोने की मुद्रा अकेली ही पर्य्याप्त है। सोने की मात्रा का कम उत्पन्न होना किसी सीमा तक चिंता का कारण हो सकता है। परंतु उन्नीसवीं सदी का अनुभव तो यही बताता है कि जरूरत के अनुसार स्वर्ण की उत्पत्ति हो जायेगी। नए नए आविष्कार जरूरतों के पूरा करने के लिये निकाले जायँगे और स्वर्ण की परिमिति से उत्पन्न खतरों को सुगमता से ही दूर कर देंगे।

आठवाँ परिच्छेद

द्विधातवीय मुद्रा-विधि

१—द्विधातवीय मुद्रा विधि का स्वरूप

मुद्राएँ धातु से बनती हैं। धातु की कीमतें स्थिर नहीं हैं। वह बाजार के उतार चढ़ाव के साथ साथ उतरती चढ़ती रहती हैं। यही कारण है कि मुद्रा सदृश मापक प्रामाणिक मापक नहीं। गज या तौल के बाटों के अदल बदल तथा प्रति दिन के भेद से व्यापार-व्यवसाय तथा लेनदेन को जो धक्का पहुँच सकता है, वही धक्का मुद्रा की कीमतों की चंचलता से आर्थिक संसार को पहुँच रहा है। अर्थ-तत्वज्ञों ने अनेक तरीके सोचे। मुद्रा के स्थान पर गेहूँ, मेहनत आदि अनेक चीजों को मापक नियत करने का यत्न किया गया, परंतु सफलता अब तक न हुई।

बहुतों का विचार है कि द्विधातवीय मुद्रा-विधि से मुद्रा की चंचलता किसी हद तक कम की जा सकती है। द्विधातवीय मुद्रा विधि से उनका तात्पर्य्य यह है कि प्रत्येक समाज मुद्रा के विचार से सोने चाँदी को एक सदृश महत्व दे। किसी एक विशेष धातु पर ही वह अपनी प्रीति न्यौछावर न करे। टकसालों में दोनों धातुओं के सिक्के समान रूप से बनाए

जायँ। जो कोई पुरुष चाहे, टकसाल में सोना चाँदी ले जाकर स्वेच्छापूर्वक सिक्के बनवा ले। राजा दोनों ही धातुओं को समान दृष्टि से देखे और समान सुगमता से दोनों ही धातु के सिक्के बनवाए। खजाने के विचार से भी दोनों धातुओं के सिक्कों में कोई भेद न समझा जाय। दोनों ही धातुओं के सिक्के एक सदृश कोश-प्रवेश्य (Legal tender) हों। राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति को यह अधिकार हो कि वह अपना ऋण जिस सिक्के में चाहे, चुका दे। उत्तमर्ण या अधमर्ण बिना संकोच के दोनों धातुओं के सिक्के ग्रहण करें और व्यापारी तथा व्यवसायी भी इस मामले में चूँ चाँ न करें। समय समय पर राज्य दोनों धातुओं के सिक्कों के अदल बदल का अनुपात नियत किया करे। लड़ाई से पहले यही अनुपात भारत में १५:१ का था और पिछले साल से सरकार ने यही अनुपात १०:१ कर दिया है।

मुद्रा की कीमतों की चंचलता रोकना आवश्यक है। उत्तम मुद्रा वही है जिसकी कीमत स्थिर रहे। निस्संदेह सोने चाँदी की कीमतें गेहूँ या चने की तरह लचकीली नहीं। परंतु इनमें वह स्थिरता नहीं जो समाज की शांति के लिये आवश्यक है। मूल्य-सूची से इस दोष को दूर करने का यत्न किया गया, परंतु सफलता कोसों दूर है। सोने चाँदी के मूल्यों या कीमतों की चंचलता का अनुमान इसीसे किया जा सकता है कि १८६७-७७ में क पदार्थों के लिये यदि १०० रत्ती सोना मिलता था तो १९०० में ७५.७ रत्ती सोना मिलने लगा। इसी प्रकार

तीस वर्षों में चाँदी की कीमतें सोने के बदले में आधे से भी कम हो गईं। कल्हण के समय में पैसे का चार सेर अनाज आता था। मुसलमानी काल तक यह भाव बहुत नहीं बदला। परंतु अब क्या यह हालत है? अब एक छटाँक से दो छटाँक तक ही अनाज पैसे में आता है। ध्यान से देखा जाय तो मालूम पड़े कि पुराने जमाने की पैसे की क्रयशक्ति आजकल के एक रुपए के बराबर थी। यदि मुद्रा की कीमतों में चंचलता न होती तो इतना भेद न पड़ता।

१८६६ से १९०० तक सोने की उत्पत्ति बढ़ती रही, जिसका ब्यौरा इस प्रकार है:—

सन्	सोने की उत्पत्ति (आउन्स में)
१८६६–७०	६१३२२९५
१८७१–७२	५६०५३०३
१८७६–८०	५२६९८११
१८८१–८५	४९१३५५०
१८८६–९०	५३२०८३४
१८९६	९८२००७५
१८९८	१४०३५१७९
१८९९	३५५६७२६५

सोने की उत्पत्ति के बढ़ने के साथ साथ सोने-चाँदी की क्रयशक्ति घटती जा रही है। इसका ब्यौरा इस प्रकार है:—

सन्	सोने की क्रयशक्ति	चाँदी के बदले सोने की मात्रा
१८६६–७७	१००	१००
१८७४	१०२	६५·८
१८८०	८२	८५·६
१८६०	७२	७८·४
१८६६	६१	५०·५
१८६६	६८	४५·१
१६००	७५·७	४६·४

सोने चादी की कीमतों में जो भेद आया है, उसका ज्ञान उल्लिखित ब्योरे से प्राप्त किया जा सकता है। इस भेद के कारण समाज में जो अशांति पैदा हुई, उसका वर्णन महाशय हैलम ने अपने ज्वाइंट स्टैन्टर्ड नामक ग्रन्थ में अच्छी तरह से किया है। अगले प्रकरण में अब उसी पर प्रकाश डाला जायगा।

२—मौद्रिक धातुओं की कीमतों के परिवर्त्तन के दोष

मौद्रिक धातुओं की कीमतों में जो परिवर्त्तन होते हैं, उनसे समाज को निम्नलिखित हानि पहुँचती हैं।

(१) प्रत्येक प्रकार के कर का बढ़ना। यदि किसी जाति पर कर एकदम दुगुना कर दिया जाय तो अशांति का कोई अंत न रहे। पर अन्य रूप से जब यही हो जाता है तब लोग चुपचाप सहन कर लेते हैं। जो लोग पहले १०० मन गेहूँ बेचकर अपने

कर से मुक्त हो सकते थे, मौद्रिक धातुओं की कीमतों के परिवर्त्तन से १५० मन गेहूँ बेचने पर भी प्रायः उनको राज्य-कर से मुक्ति नहीं मिलती।

(२) ऋणी जातियों को नुकसान। इंग्लैंड की ऋणी जातियाँ अपना कच्चा माल बेचकर ही कर्ज से मुक्त होती हैं। मौद्रिक धातुओं की कीमतों के परिवर्त्तन से अब उनको कर्ज चुकता करने के लिये अपना बहुत ही अधिक माल बेचना पड़ेगा।

(३) कीमतों के कम होने से विक्षोभ। जब पदार्थों का मूल्य घटता है, तब व्यवसायपतियों के लाभ कम हो जाते हैं। इसका प्रभाव व्याज की मात्रा तथा भृति पर पड़ता है। दोनों का ही घटना आवश्यक हो जाता है। धीरे धीरे भूमि, मकान, कलयंत्र तथा शिल्पीय पदार्थ आदि अनेक चीजों की कीमतें घट जाती हैं। इन सब का धक्का व्यापार पर लगता है। व्यापारियों का जीवन खतरे में पड़ जाता है। मजदूर बेकार होकर नौकरी की तलाश में इधर-उधर भटकने लगते हैं। मेहनतियों तथा पूँजीपतियों का झगड़ा भयंकर रूप धारण करता है। हड़ताल तथा द्वारावरोध से समाज के कष्ट बढ़ जाते हैं। राज्यों को भी राज्यक्रांति के भय से दिनरात बेचैन रहना पड़ता है। सारांश यह है कि मौद्रिक धातुओं की कीमतों का परिवर्त्तन समाज को भयंकर तौर पर विक्षुब्ध कर देता है।

(४) जातीय स्पर्धा। कीमतों के गिरने से जातीय विद्वेष बढ़ता है। सभी राज्य अपने अपने देश के व्यवसायों को

विदेशी सस्ते माल से बचाने का यत्न करते हैं। सामुद्रिक चुंगियों का प्रयोग किया जाता है। स्वाभाविक है कि इससे व्यापार शिथिल हो और जातीय मनोमालिन्य किसी नए यूरोपीय युद्ध का श्रीगणेश करे।

सारांश यह है कि मुद्रा की कीमतों में परिवर्त्तन समाज के लिये अनिष्टकर है। इसके कारण व्यापार-व्यवसाय तथा लेनदेन में पर्य्याप्त विक्षोभ उत्पन्न हो जाता है। अभी तक कोई उपाय नहीं मालूम पड़ा जिससे मुद्रा के इस दोष को दूर किया जा सके। जो कुछ किया जा सकता है वह यही है कि समाज को इसके हानिकर प्रभावों से बचाया जाय। बहुत से अर्थ-तत्वज्ञों का मत है कि द्विधातवीय मुद्राविधि का सबसे बड़ा गुण यह है कि यह ऐतिहासिक तथा महत्वपूर्ण है। इसका प्रयोग भिन्न भिन्न समयों में होता रहा और इसने समय समय पर समाज को भिन्न भिन्न कष्टों तथा बाधाओं से बचाया। इसके गुण प्रत्यक्ष किए जा चुके हैं और इसके फलों को समाज देख चुका है।

३—द्विधातवीय मुद्राविधि के लाभ

यह पहले ही लिखा जा चुका है कि द्विधातवीय मुद्रा-विधि के अनुसार समाज में सोने चाँदी का एक सदृश महत्व होना चाहिए। दोनों ही धातुएँ लेनदेन में समान रूप से चलनी चाहिएँ और नियत विनिमय की मात्रा पर दोनों धातुओं का

अदल-बदल होना चाहिए। ऋणी लोगों को यह अधिकार होना चाहिए कि वह सस्ती धातु की मुद्राएँ बनाकर अपने ऋण अदा कर सकें। इससे उत्तमर्णों को कुछ भी भय नहीं। क्योंकि द्विधातवीय मुद्रा-विधि में मुद्रा तथा धातु की कीमतों में बहुत भेद नहीं होता। द्विधातवीय मुद्रा-विधि के पक्षपाती अपने पक्ष में निम्नलिखित युक्तियाँ पेश करते हैं—

(१) मूल्य की स्थिरता। सोने चाँदी की मुद्राएँ यदि समान रूप से कोश प्रवेश्य (Legal tender) हों तो सिक्के का भंडार बढ़ जायगा। सिक्कों के मूल्य में बहुत परिवर्तन न होंगे। इसका मुख्य कारण यह है कि सोना चाँदी सिक्के के तौर पर समान रूप से प्रयुक्त होते हुए एक दूसरे की कीमतों को प्रभावित करेंगे और जहाँ तक हो सकेगा, मुद्रा की कीमतों को स्थिर रखेंगे।

(२) व्यापार की वृद्धि। द्विधातवीय मुद्रा विधि के पक्षपातियों का मत है कि यदि एक धातु के स्थान पर अनेक धातुओं की मुद्राएँ कोश प्रवेश्य हों और समाज में समान रूप से चलती हों तो मौद्रिक धातु का भण्डार बहुत ही अधिक बढ़ जाय। भण्डार के बढ़ने का परिणाम यह होगा कि धातु की कीमतें बहुत जल्दी न गिरेंगी और न बढ़ेंगी। जिस प्रकार एक बड़े भारी तालाब में १०० घड़े पानी डालने पर भी उसकी वृद्धि इतनी अल्प होती है कि उसका देख लेना सुगम काम नहीं, उसी प्रकार मौद्रिक धातु के बहुत बड़े भंडार

में किसी एक धातु की उत्पत्ति का वढ़ना घटना कुछ भी प्रभाव नहीं डालता। परंतु यदि यही भंडार छोटा हो तो जैसे एक छोटे से गड्ढे को १०० घड़े से कुछ कम घड़े ही भर सकते हैं, और एक घड़ा पानी भी उसके तल को ऊँचा या नीचा कर सकता है, वैसे ही एक धातु की मुद्रा चलानेवाले देशों में मुद्रा की कीमतें धातु की थोड़ी से उत्पत्ति के घटने या वढ़ने ही से घटने या वढ़ने लगती हैं। व्यापार की वृद्धि के लिये आवश्यक है कि धातु की कीमतें वहुत जल्दी न घटें और न वढ़ें ही। कीमतों के परिवर्तन की मंदता ही व्यापार की वृद्धि के लिये अभीष्ट है। द्विधातवीय मुद्रा विधि का सव से वड़ा गुण भी यही है कि इससे धातु की कीमतें वहुत जल्दी घटती वढ़ती नहीं। उनमें परिवर्तन वहुत धीरे धीरे होता है।

(३) कीमतों के गिरने का प्रभाव। यह पहले ही लिखा जा चुका है कि द्विधातवीय मुद्रा विधि के अनुसार कीमतें स्थिर रहती हैं। यदि उनमें परिवर्तन भी आता है तो वह वहुत ही मंद होता है। १८७१ में योरप के वहुत से देशों में सोना-चाँदी समान रूप से सिक्के के तौर पर व्यवहार में लाया जाता था। युरोपीय राष्ट्रों की उस समय जो स्थिति थी, उसका व्योरा इस प्रकार है—

सुवर्ण सिक्का	द्विधातवीय सिक्का	चाँदी का सिक्का
ग्रेटब्रिटन	फ्रांस	एशिया
पुर्तगाल	इटली	जर्मनी

टर्की	स्विट्ज़लैंड	स्वीडन
	ग्रीस	नार्वे
	रूस	हालैंड
	संयुक्तप्रांत अमेरिका	

सन् १८७३ से १९०० तक सोने चाँदी की स्थिति भिन्न भिन्न राष्ट्रों में जिस प्रकार बदली, इसका ब्यौरा इस प्रकार है–

सुवर्ण सिक्का	सुवर्ण तथा चाँदी का सिक्का	चाँदी का सिक्का
ग्रेट ब्रिटन	भारतवर्ष (सोने का सिक्का	
पुर्तगाल	नाम मात्र में)	चीन
टर्की	जापान	भारत
फ्रांस	संयुक्तप्रांत अमेरिका	
जर्मनी		
इटली		

सन् १९०२ तक भिन्न भिन्न राष्ट्रों ने चाँदी का सिक्का छोड़कर एकमात्र सोने का सिक्का ही चलाना शुरू किया। इससे सोने की माँग बहुत ही अधिक बढ़ गई। अन्य कार्य्यों में भी सोने की खपत पूर्वापेक्षा अधिक हो गई। परंतु माँग के अनुसार सोने की उपलब्धि न बढ़ी, इससे सोने की कीमतें बहुत ही अधिक चढ़ गईं। इससे यूरोप में अन्य पदार्थों की कीमतें गिरने लगीं। कर्जदारों पर कर्ज का भार बढ़ गया और वह सब विक्षोभ समाज के सिर पर मँडराने लगा जिसका पूर्व में वर्णन किया जा चुका है। यूरोप के राष्ट्र यदि

दोनों ही धातुओं की मुद्राएँ चलाते रहते तो वे इस दुरवस्था से बच जाते।

(४) अंतर्जातीय व्यापार की स्थिरता। द्विधातवीय मुद्रा के पक्षपातियों की चौथी युक्ति यह है कि दोनों धातुओं की मुद्राएँ यदि सभी राष्ट्रों में चलें तो अंतर्जातीय व्यापार की बहुत सी बाधाएँ दूर हो जायँ। विनिमय की दर (Rate of Exchange) का झगड़ा किसी अंश तक मिट जाय। इस समय हालत यह है कि यूरोप के राष्ट्रों ने तो एकमात्र सोने का सिक्का चलाया हुआ है और एशिया के राष्ट्र चाँदी के सिक्कों को ही व्यवहार में ला रहे हैं। दोनों ही महाद्वीपों का एक दूसरे के साथ बहुत ही अधिक व्यापार है। यूरोप के लोग अपने माल का दाम सोने के सिक्के में लेते हैं और एशिया के लोगों को उनके माल का दाम चाँदी के सिक्कों में देते हैं। समय समय पर भिन्न भिन्न देशों के सिक्कों के पारस्परिक अदल-बदल का अनुपात आर्थिक नियमों के अनुसार नियत होता रहता है। जो कुछ कष्ट है वह यही है कि कभी कभी तो विनिमय की दर व्यापार की सहायक और कभी कभी व्यापार की बाधक होती है।

यूरोपीय महायुद्ध में यूरोप के राष्ट्रों ने एशिया से बहुत ही अधिक माल मँगाया। इंग्लैंड भी किसीसे पीछे न रहा। इसका परिणाम यह हुआ कि युद्ध के खतम होने पर विनिमय की दर इस कदर बिगड़ी कि यूरोपीय राष्ट्रों को सिर तक

उठाना कठिन हो गया। भारत में इंग्लैंड का राज्य है। इंग्लैंड को आर्थिक विक्षोभों से बचाने के लिये महाशय हेली ने रिवर्स काउंसिल्स बिल बेचे और भारत का एक अरब के लगभग धन पानी में मिलाकर उसने इंग्लैंड का उद्धार किया।

सबसे बड़ी बात तो यह है कि इंग्लैंड के हितों को सामने रखते हुए उसने विनिमय की दर १५:१ के स्थान पर १०:१ कर दी। भारतीयों ने इसका खुल्लमखुल्ला विरोध किया, परंतु सरकार में कुछ सुनाई न हुई। अभी तक विनिमय की दर का झगड़ा पूर्ववत् विद्यमान है। १०:१ का अनुपात सामने रखकर जिन व्यापारियों ने इंग्लैंड से माल मँगाया था, उनको लाखों तथा करोड़ों का नुकसान उठाना पड़ा; क्योंकि विनिमय की दर पुनः १५:१ पर जा पहुँची थी। १९२१ के अंतिम दिनों से विनिमय की दर कुछ कुछ सुधरने लगी है। परंतु जातीय मनोमालिन्य अभी तक ज्यों का त्यों मौजूद है।

द्विधातवीय मुद्रा-विधि में इस ढंग के झगड़े का कोई स्थान नहीं। यह एक ऐसा लाभ है जिसको भुलाया नहीं जा सकता।

४—द्विधातवीय मुद्राविधि पर एक विचार

द्विधातवीय मुद्राविधि के जो जो लाभ दिखाए जाते हैं, उनको पूर्व प्रकरण में दिया जा चुका है। वह लाभ कहाँ तक सत्य हैं, उनमें कहाँ तक अत्युक्ति है और द्विधातवीय मुद्रा-

विधि के चलाने में क्या क्या कठिनाइयाँ हैं, इत्यादि बातों पर इस प्रकरण में प्रकाश डाला जायगा।

द्विधातवीय मुद्राओं के चलाने में सबसे बड़ी उलझन यह है कि दोनों धातुओं की मुद्राओं के विनिमय का अनुपात कौन नियत करे? इसमें तो संदेह ही नहीं है कि यह काम न तो कोई बड़ा राष्ट्र कर सकता है और न कोई राज्य ही। राष्ट्रों पर इस अनुपात का भार छोड़ा नहीं जा सकता; क्योंकि सभी स्वार्थ-परायण हैं; और द्विधातवीय मुद्रा के पक्ष में भी आम तौर पर बड़े बड़े राष्ट्र नहीं हैं। महाशय गिफन जैसे व्यक्ति का मत है कि राज्य इस अनुपात को नियत न करें; क्योंकि राज्य द्वारा नियत अनुपात कुछ भी समय तक स्थिर नहीं रह सकता।

आजकल अर्थ-तत्वज्ञों का मत है कि राज्य या राष्ट्र आर्थिक घटनाओं में परिवर्तन किसी हद तक ही कर सकते हैं। जहाँ तक हो सके, उनमें हस्तक्षेप न करना चाहिए। यही कारण है कि सोने चाँदी की मुद्रा के विनिमय का अनुपात बाजार दर पर ही छोड़ना उचित है। यदि यह न किया जाय तो दोनों धातुओं की मुद्राएँ चल ही नहीं सकतीं। क्योंकि जिस मुद्रा में बाजार भाव से धातु अधिक होगी, उसकी मुद्राएँ रोक ली जायँगी; और यदि बाजार भाव से धातु कम हुई तो बाजार से धातु खरीदकर बहुत मुद्राएँ बना दी जायँगी और इस प्रकार मुद्रा की कीमत वही रहेगी जो उसकी धातु की

कीमत है। इस दशा में बाजार भाव से भिन्न अनुपात का कुछ समय तक भी चलना कठिन हो जायगा।

दोनों धातुओं के परिवर्तन का अनुपात बाजार भाव पर छोड़ते हुए भी द्विधातवीय मुद्रा नहीं चल सकती। क्योंकि ग्रेशम के नियम के अनुसार उत्कृष्ट मुद्रा को निकृष्ट मुद्रा राष्ट्र से बाहर निकाल देगी। परिणाम यह होगा कि अंत में राष्ट्र में एक ही धातु की मुद्रा चलती रहेगी। द्विधातवीय मुद्रा के पक्षपाती ग्रेशम के नियम को कार्य्य में परिणत होने से रोकने के लिये सभी राष्ट्रों में दोनों धातुओं की मुद्रा का चलाना आवश्यक बताते हैं। यदि सभी राष्ट्र दोनों धातुओं की मुद्राओं का चलाना स्वीकार कर लें तो द्विधातवीय मुद्रा-विधि की कमजोरी दूर हो सकती है। दोनों धातुओं के विनिमय का झगड़ा भी किसी हद तक सुलभ हो जाय। कुछ समय तक एक स्थिर अनुपात प्रचलित रह सके। इसको समझने के लिये कल्पना करो कि चाँदी सोने का अनुपात १६:१ है। अर्थात् एक तोले सोने के बदले सोलह तोले चाँदी मिल सकती है। दोनों धातुओं की मुद्राओं में १६:१ का अनुपात नियत हो जाने के बाद यदि चाँदी का दाम गिर जाय और उसका मुद्रा में दाम पूर्ववत् बना रहे, तो लोग सोने के बदले चाँदी खरीदकर उसके सिक्के बनवावेंगे और इस प्रकार सोने के सिक्के में अपना कर्ज या लेनदेन चुकता न कर चाँदी के सिक्के में चुकता करेंगे। क्योंकि ऐसा करने से उनको बहुत ही

अधिक बचत होगी। धीरे धीरे चाँदी की माँग बढ़ जायगी और उसका दाम पुनः वहाँ तक चढ़ जायगा जहाँ तक चाँदी के सिक्के की चाँदी का दाम है। यही घटना सोने के दाम के गिरने में होगी। लोग चाँदी से सोना खरीदकर सोने के सिक्कों में लेनदेन चुकता करना शुरू कर देंगे और इस प्रकार सोने का मुद्रा तथा डले के रूप में एक ही दाम हो जायगा। स्वाभाविक है कि दोनों धातुओं के विनिमय का अनुपात कुछ समय तक स्थिर रहे।

कुछ समय तक इसलिये कहा कि समृद्धिशाली समाज में इस अनुपात का देर तक स्थिर रहना आवश्यक नहीं। धन तथा धान्य में बढ़ते हुए समाज के व्यक्तियों की आमदनी बहुत ही अधिक बढ़ जाती है। धीरे धीरे उनमें पदार्थों की कीमतें भी चढ़ जाती हैं। इसका प्रभाव दोनों धातुओं की स्थिति पर पड़ता है। ऐसे समृद्ध समाज में चाँदी का महत्व बहुत ही कम हो जाता है और सोना व्यवहार का मुख्य साधन बन जाता है। जिस प्रकार असभ्यता से सभ्यता की ओर पग धरते ही कौड़ी, ताँबे, लोहे आदि वस्तुओं की मुद्राएँ कोश-प्रवेश्य नहीं रहतीं, उसी प्रकार अति उच्च सभ्यता तथा समृद्धि में चाँदी भी अपना महत्व खो बैठती है। सोना तथा साख ही ऐसे समाज में प्रभुत्व प्राप्त करते हैं।

समृद्ध समाज में करोड़ों रुपयों का प्रतिदिन लेनदेन होने

से चाँदी की माँग घट जाती है और सोने की माँग बढ़ जाती है। स्वाभाविक है कि सोने चाँदी के विनिमय का अनुपात स्थिर न रहे। बहुत पुराने जमाने में सोने चाँदी के मूल्य में अनुपात १:१६ था; परंतु वर्त्तमान युग में यह अनुपात नहीं रहा। क्योंकि यूरोपीय राष्ट्रों की समृद्धि तथा वैज्ञानिक आविष्कार के कारण सोने की माँग बहुत ही अधिक बढ़ गई। पुराने जमाने की सोने चाँदी की विनिमय की दर देर तक न चल सकी। चाँदी के दुर्भाग्य से पिछली सदी में चाँदी की उपलब्धि बहुत ही बढ़ गई। चाँदी की नई नई खानों का ज्ञान लोगों को हुआ। उनके खुदते ही चाँदी का दाम बड़ी शीघ्रता से गिरने लगा। यूरोपीय राष्ट्रों ने भी चाँदी को दाम में गिरता हुआ देखकर उसकी मुद्राओं का परित्याग किया और एकमात्र सोने को ही अपना सहारा बनाया। सारांश यह है कि द्विधातवीय मुद्रा-विधि में सबसे बड़ी उलझन चाँदी सोने के विनिमय की दर है। यदि यह स्थिर होती तब तो द्विधातवीय मुद्रा-विधि के गुणों पर संदेह ही न होता। लंबे समय तथा साधारण स्थिति को सामने रखते हुए दोनों धातुओं के विनिमय का अनुपात अन्य सांसारिक पदार्थों की अपेक्षा अधिक स्थिर है। दुःख की बात तो यही है कि समाज की स्थिति सदा एक सी नहीं रहती। गत महायुद्ध में सोने चाँदी की कीमतों ने जो चक्कर खाया, वही इस बात का सूचक है कि दोनों धातुओं की विनिमय की दर को स्थिर समझना भारी भूल है।

द्विधातवीय मुद्राविधि का एक लाभ 'मूल्यों की स्थिरता' प्रकट किया जाता है। इसके लिये जल-भंडार की उपमा दी जाती है। बहुत वृष्टि से समुद्र का पानी नहीं बढ़ता। यदि बढ़ता है तो उसकी वृद्धि प्रत्यक्ष नहीं होती। परंतु नदी में तो इससे बाढ़ आ जाती है। दोनों धातुओं की मुद्रा के चलने से मुद्रा की धातु का भंडार बड़ा हो जायगा। इससे किसी एक धातु की माँग या उपलब्धि का बढ़ना कीमतों में भयंकर परिवर्तन न उपस्थित कर सकेगा। परंतु यदि एक ही धातु की मुद्रा कोशप्रवेश्य हो तो उसका भंडार अल्प होने से माँग तथा उपलब्धि का हल्के से हल्का परिवर्तन भी कीमतों को परिवर्तित कर देगा। सारांश यह है कि द्विधातवीय मुद्रा-विधि में विनिमय के माध्यम की कीमतों में भयंकर परिवर्तन न होगा। उसमें छोटे छोटे परिवर्तन होते रहेंगे, परंतु बड़े परिवर्तनों का अवसर न आवेगा।

उल्लिखित लाभ की समीक्षा करने से पूर्व इस बात पर विचार करना अत्यंत आवश्यक है कि कीमतों का संबंध किस प्रकार की मुद्रा से है। कीमती या कम कीमती मुद्रा में से किस प्रकार की मुद्रा कीमतों पर अधिकतर प्रभाव डालती है। महाशय जेवन्ज़ का मत है कि कम कीमती मुद्राओं के पीछे ही कीमतें चलती हैं; क्योंकि साधारण लेनदेन का काम कम कीमती मुद्राओं के द्वारा ही किया जाता है।

द्विधातवीय मुद्राविधि यदि सफलतापूर्वक चल सके तो

कीमतों का आधार कभी एक धातु की मुद्रा होगी और कभी दूसरी धातु की मुद्रा। यदि एक धातु की मुद्रा चलती तो कम कीमती धातु की प्रधानता में कीमतें बहुत ही चढ़ जातीं और सोने की प्रधानता में कीमतें बहुत ही गिर जातीं। दोनों धातुओं की मुद्राओं के चलने पर कीमतों का बहुत ही अधिक चढ़ना या गिरना रुक जायगा, परंतु कीमतों में सदा ही छोटा छोटा परिवर्तन होता रहेगा। दोनों ही धातुएँ कीमतों में छोटा छोटा परिवर्तन लाया करेंगी। कभी सोने की माँग या उपलब्धि और कभी चाँदी की माँग या उपलब्धि कीमतों को चढ़ावेगी तथा उतारेगी। यदि जेवन्ज का मत ठीक हो तो चाँदी की उपलब्धि तथा माँग के परिवर्तन दिन रात कीमतों को विक्षुब्ध करेंगे।

अर्थ-तत्वज्ञों का मत है कि व्यापार-व्यवसाय की वृद्धि तथा लेनदेन के लिये कीमतों की स्थिर गति ही हितकर है। कीमतों का लगातार चढ़ना आर्थिक संसार को अधिकतर अभीष्ट है बनिस्बत इसके कि कीमतें दिनरात चढ़ा उतरा करें। क्योंकि लेनदेन तथा साख का समय अल्प होता है। कुछ महीनों के लिये ही व्यापारी व्यवसायी उधार लेते हैं। उधार लेते समय कीमतों के चढ़ने या उतरने को वह लोग आँखों के सामने रखते हैं। यदि उनका यह अनुमान आकस्मिक कारणों से गलत साबित हो तो उनको काफी नुकसान उठाना पड़ता है और ऋणों के चुकता करने में वे असमर्थ हो जाते

१४

हैं। कीमतें यदि किसी एक ओर स्थिर तौर पर झुकें तो लेनदेन का आधार नष्ट नहीं होता। व्यापारी व्यवसायी भविष्य का अनुमान करने में समर्थ हो जाते हैं और दृढ़ता के साथ रुपया उधार ले लेते हैं। परंतु यदि कीमतें क्षण क्षण में बदलें और कभी चाँदी के कारण चढ़ें और कभी सोने के कारण उतरें तो लेनदेन का आधार नष्ट हो जाय। जिस लाभ का अनुमान व्यापारियों ने किया हो, वह लाभ उनको न मिले। कीमतों की चढ़ा-उतरी से उनमें सट्टा तथा भाग्यवाद प्रबल हो जाय। साख का स्थान बेईमानी ले ले।

कल्पना के तौर पर यदि यह मान भी लें कि सोने की एक धातुमुद्रा से कीमतों में जो गिराव आता है, उसको द्विधातवीय मुद्र-विधि से रोका जा सकता है। यहीं पर बस नहीं। दोनों धातुओं की मुद्राएँ कीमतों को शनैः शनैः चढ़ा देंगी। यह बात मानने पर भी द्विधातवीय मुद्रा के लाभ स्पष्ट नहीं होते; कीमतों का एक मात्र मुद्रा-विधि के कारण चढ़ना समाज के लिये हितकर नहीं; क्योंकि क्षणिक उत्तेजना प्राप्त कर व्यापारी व्यवसायी अपनी उत्पत्ति बढ़ा देंगे और उस प्रकार अधिक उत्पत्ति के कारण कीमतों को गिरना पड़ेगा। इससे आर्थिक दुर्घटना उपस्थित होगी जो किसी अर्थ-तत्वज्ञ को अभीष्ट नहीं।

द्विधातवीय मुद्रा के पक्षपातियों का खयाल था कि सोने की एकमात्र मुद्रा से कीमतें कम होंगी और ऋणियों को नुकसान

उठाना पड़ेगा। दोनों धातुओं की मुद्राओं में यही दोष नहीं। उनके कारण कीमतों के स्थिर होने से ऋणियों को कुछ भी नुकसान नहीं। हमारी समझ में यह लाभ केवल कल्पित ही है। पहले ही लिखा जा चुका है कि कीमतों का शीघ्रता से चढ़ना उतरना आर्थिक संसार को अभीष्ट नहीं है; क्योंकि इससे व्यापार व्यवसाय तथा लेनदेन का आधार भंग हो जाता है। ऋणी लोग भी कीमतों की स्थिर गति चाहते हैं। चाहे कीमतें गिरें और चाहे कीमतें चढ़ें, उनका चढ़ाव या उतराव कुछ समय के लिये स्थिर हो। दुःख की बात है कि द्विधातवीय मुद्रा-विधि यही करने में असमर्थ है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि साख का कीमतों के परिवर्तन में जो भाग है, उसका क्या उपाय है। क्या द्विधातवीय मुद्रा-विधि साख के प्रभाव को किसी अंश तक घटा या बढ़ा सकती है? द्विधातवीय मुद्रा-विधि के सफलतापूर्वक चलने के लिये उसका क्षेत्र विस्तृत होना चाहिए। संसार के सभी बड़े बड़े राष्ट्र उसका अवलंबन करें। यदि यह न हो तो ग्रेशम के नियम के अनुसार राष्ट्र में एक ही धातु की मुद्रा चलेगी और वह भी उस धातु की मुद्रा जो कम कीमती हो। दोनों धातुओं की मुद्राओं का क्षेत्र यदि विस्तृत मान लें तो सबसे बड़ा दोष यह है कि एक धातु की माँग या उपलब्धि में भेद आने से उसकी कीमतों में जो भेद आवेगा, वह स्थानीय होगा। सभी राष्ट्रों में एक साथ ही वह भेद प्रत्यक्ष न होगा। पहले एक राष्ट्र में दोनों

धातुओं में से किसी एक धातु की कीमत वदलेगी और फिर धीरे धीरे अन्य राष्ट्रों को भी प्रभावित करेगी। इस समय के बीच में लोगों को लाभ तथा हानि का अवसर होगा। सभी राष्ट्रों में धातुओं की कीमतें चंचल हो जायँगी। कभी एक ओर से हिलेंगी और कभी दूसरी ओर से। धातु की कीमतों की चंचलता को रोकना ही द्विधातवीय मुद्रा-विधि का मुख्य लाभ है। परंतु दुःख की बात है कि इसी दोष को दूर करने में वह असमर्थ है।

ऋणियों को सामने रखते हुए इस बात पर विचार करना अत्यंत आवश्यक प्रतीत होता है कि द्विधातवीय मुद्रा-विधि से कीमतों की सीमा क्या रहेगी। क्या इससे पाँच साल पुरानी या दस साल पुरानी कीमतों की सीमा आवेगी? अभी तक कोई प्रमाण नहीं मिला कि द्विधातवीव मुद्रा-विधि के द्वारा कीमतें इष्ट सीमा पर पहुँच सकेंगी। धातु की मात्रा से कीमतों का चढ़ना और बात है और इष्ट मात्रा तक चढ़ना एक दूसरी बात है। यदि द्विधातवीय मुद्रा-विधि इष्ट मात्रा तक कीमतें चढ़ा भी सके तो भी किसकी इष्ट मात्रा हो, इसका निर्णय कैसे किया जाय? सभी ऋणियों ने एक समय में तो कर्ज लिया ही नहीं। यदि दोनों धातुओं की मुद्राओं के प्रचलित करने से पिछले साल की कीमतें प्रचलित हो जायँ तो बहुत साल पहले जिन्होंने ऋण लिया है, उनको इससे क्या लाभ पहुँचा? इस प्रकार स्पष्ट है कि द्विधातवीय मुद्रा-विधि का

यह लाभ भी कल्पित ही है। चाहे इसके द्वारा कीमतें ऊपर चढ़ें और चाहे नीचे गिरें, भिन्न भिन्न दलों के सिवा और किसी को इससे लाभ नहीं है। द्विधातवीय मुद्रा-विधि कीमतों का अधःपतन किसी हद तक रोक सकता है। परंतु उससे लाभ ही क्या, जब कि कीमतों की मात्रा या सीमा पर द्विधातवीय मुद्रा के पक्षपातियों का प्रभुत्व नहीं है?

यह पहले ही लिखा जा चुका है कि दोनों धातुओं का समान रूप से चलना तभी संभव है जब कि उनका क्षेत्र विस्तृत हो। द्विधातवीय मुद्रा-विधि अंतर्राष्ट्रीय है। जब तक संसार के बड़े बड़े राष्ट्र दोनों धातुओं का प्रचलित करना मंजूर न करें, तब तक यह नहीं चल सकती। युरोप की जातियों में जातीय वस्तुओं से जो प्रेम है, वह किसी से छिपा नहीं है। द्विधातवीय मुद्रा का चलाना तो दूर रहा, इतना तक तो कोई जाति मंजूर करने के लिये तैयार नहीं है कि अपनी अपनी मुद्राओं का परित्याग कर किसी एक सार्वभौम मुद्रा का अवलंबन कर ले। यदि इंग्लैंड का पाउंड-शिलिङ्ग संसार की मुद्रा हो जाय तो व्यापार व्यवसाय में कितनी सुगमता हो जाय। विनिमय की दर के झगड़े किसी अंश तक कम हो जायँ। परंतु जातियों की जातीय वस्तुओं से ममता इस साधारण सी बात की भी बाधक है। द्विधातवीय मुद्रा-विधि का अवलंबन करना तो जातियों के लिये और भी कठिन है। यही कारण है कि युरोपीय महाद्वीप के राष्ट्रों के कहने पर भी इंग्लैंड ने चाँदी की

मुद्रा चलाना मंजूर न किया। १८०३ में फ्रांस ने १५½ : १ के अनुपात पर चाँदी तथा सोने की मुद्राओं को समान रूप से प्रचलित किया। पचास साल तक फ्रांस ने दोनों धातुओं के अनुपात को स्थिर रखा; परंतु इसमें नुकसान उसी को पहुँचा। आस्ट्रेलिया तथा कैलिफोर्निया में सोने की नई खानों के निकलने से फ्रांस दोनों धातुओं के सिक्के समान रूप से प्रचलित करने में असमर्थ हुआ। कुछ समय तक तो उसने चाँदी के सिक्के को दूषित किया, परंतु अंत में १८६५ में वह स्विट्जलैंड, बेल्जियम तथा इटली के लैटिन यूनियन में संमिलित हो गया। फ्रांस के सदृश ही अमेरिका को भी उलझनें सहनी पड़ीं।

पिछले कुछ सालों से द्विधातवीय मुद्रा-विधि का विवाद ठंढा पड़ गया। सोने की उत्पत्ति इस कदर बढ़ गई कि दो धातुओं के द्वारा मुद्रा का भंडार बढ़ाने का मामला समाज के सम्मुख न आया। द्विधातवीय मुद्रा-विधि में भी धातु की मात्रा बढ़ सकती थी और बहुत संभव था कि इस समय से अधिक होती। परंतु सोने की उत्पत्ति के बढ़ने से संसार का जो हित हुआ, वह भुलाया नहीं जा सकता। बहुत संभव है कि कुछ लोग सोने की उत्पत्ति का बढ़ना आकस्मिक समझेंगे, पर वास्तव में यह बात नहीं है। १८७३ के बाद कीमतें जो गिरीं, उसका भी मुख्य कारण सोने की उत्पत्ति का कम होना न था। वैज्ञानिक आविष्कारों तथा वाष्पीय पोतों के चलने से और एशिया से विस्तृत तौर पर व्यापार शुरू होने से पदार्थों

की उत्पत्ति बहुत ही अधिक बढ़ गई। धीरे धीरे पूँजी का विनियोग जब पदार्थों की उत्पत्ति में लाभप्रद नहीं रहा, तब सोने की उत्पत्ति की ओर ध्यान दिया गया। रासायनिक तथा भूगर्भ-संबंधी आविष्कारों से धातु की मात्रा बहुत ही अधिक बढ़ गई। विनिमय के माध्यम की जरूरत के अनुसार ही सोने की उत्पत्ति बढ़ी। इस प्रकार द्विधातवीय मुद्रा-विधि के संपूर्ण लाभ समाज को प्राप्त हो गए और समाज दोनों धातुओं की मुद्राओं से उत्पन्न होनेवाले नुकसान से बच गया।

५—संमिश्रित मुद्रा-विधि (Symmetallism)

द्विधातवीय मुद्रा-विधि के सदृश ही संमिश्रित मुद्रा-विधि को समझना चाहिए। द्विधातवीय मुद्रा-विधि में दोनों धातुओं की मुद्राओं का पृथक् पृथक् समान महत्व के साथ चलना आवश्यक है; परंतु संमिश्रित मुद्रा-विधि में यह आवश्यक नहीं। इसके पक्षपातियों का मत है कि दोनों धातुओं को एक ही मुद्रा में मिला देना चाहिए। एक डालर के बदले २३·२ ग्रेन सोना आ सकता है और उसमें चाँदी ३७१·२५ ग्रेन होती है। संमिश्रित मुद्रा-विधि के अनुसार सोने चाँदी को ११·६ तथा ११५·६ ग्रेन के अनुपात में मिलाकर एक डालर बना देना चाहिए।

द्विधातवीय मुद्रा-विधि की अपेक्षा भी संमिश्रित मुद्रा-विधि अधिकतर हानिकर है। इसमें राज्यों को जनता के साथ छल

करने का अधिक मौका मिल सकता है। दोनों धातुओं को किस अनुपात में मिलाया गया, इसका जानना सुगम काम नहीं। नियामक समाजों के द्वारा पास किए गए अनुपात में सोना चाँदी न मिलाकर प्रजा को राजा धोखा दे सकते हैं। यदि सोने चाँदी के मूल्य में फरक पड़ा तो डालरों की क्या गति होगी, इसका अनुमान करना कठिन है। लेनदेन में इसके कारण जो बाधा पड़ेगी, उसकी कल्पना तक करना कठिन है। घिसने के कारण डालरों के दाम में जो भेद पड़ेगा, उसको जानना बहुत ही कठिन हो जायगा। बेचारे गरीब सुगमता से ठगे जा सकेंगे। सारांश यह है कि संमिश्रित मुद्रा-विधि में कोई ऐसा गुण नहीं है जिससे इसकी कुछ भी प्रशंसा की जा सके।
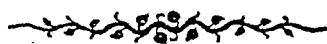
नवाँ परिच्छेद

अपरिवर्तनशील पत्रमुद्रा

१—पत्र मुद्रा का स्वरूप तथा प्रयोग

धातु के स्थान पर किसी दूसरे पदार्थ का प्रयोग कर मुद्रा का काम निकालना अति प्राचीन है। शुरू शुरू में कागज बनने का उचित प्रबंध तथा आवश्यक ज्ञान न होने से छाल, भोज-पत्र, चमड़े आदि पदार्थों से ही पत्रमुद्रा का कार्य्य किया जाता था। कागज का व्यवसाय सबसे पहले चीन में प्रचलित हुआ। नवीं सदी में चीन में पत्रमुद्रा का बहुत अधिक राशि में प्रचार था। एसीरिया, बैबेलोनिया तथा भारत के लोग भी प्रतिनिधि मुद्रा के प्रयोग से अपरिचित न थे।

आजकल पत्रमुद्रा तीन प्रकार की है जो इस प्रकार है–

(क) प्रतिनिधि पत्रमुद्रा।
(ख) परिवर्तनशील पत्रमुद्रा।
(ग) अपरिवर्तनशील पत्रमुद्रा।

(क) प्रतिनिधि पत्रमुद्रा तो एक प्रकार का प्रमाण पत्र है जो किसी स्थान पर जमा किए हुए धन को सूचित करता

है। प्रतिनिधि पत्रमुद्रा को दिखाकर कोई भी व्यक्ति अपने जमा किए हुए धन को प्राप्त कर सकता है। लाखों रुपयों की थैलियाँ इधर उधर लादने में जो कठिनाई तथा तकलीफ है, उससे प्रतिनिधि मुद्रा के सहारे भिन्न भिन्न व्यापारी बच जाते हैं। बैंक, राज्य तथा भिन्न भिन्न कोठियाँ प्रतिनिधि पत्रमुद्रा प्रचलित कर सकती हैं।

(ख) प्रतिनिधि पत्रमुद्रा के सदृश ही परिवर्तनशील पत्र-मुद्रा है। राज्य, कोठियाँ तथा बैंक परिवर्तनशील पत्रमुद्रा का प्रचार करते हैं। राज्य की ओर से जब इनको प्रचलित किया जाता है, तब इनको नोट के नाम से पुकारा जाता है। व्यक्तियों तथा कोठियों की ओर से जब परिवर्तनशील मुद्रा निकाली जाती है, तब इसको हुंडी का नाम दिया जाता है। हुंडी दर्शनी तथा मुद्दती के भेद से दो प्रकार की होती है। दर्शनी हुंडी को दिखाते ही कोठियाँ तथा बैंकर्स धन दे देते हैं और मुद्दती हुंडियों का धन नियत समय के बाद ही मिलता है। सरकार द्वारा निकाली परिवर्तनशील पत्रमुद्रा एक प्रकार की दर्शनी हुंडी है। नोटों पर यह लिखा रहता है कि उनको खजाने में ले जाते ही सरकार उनके बदले इतनी प्रचलित धातविक मुद्रा दे देगी। प्रचलित शब्द इसलिये लिखा कि बहुधा सरकार अपने नोटों के बदले भूमि या पदार्थ दे देती है। भूमि या पदार्थ देनेवाले सरकारी नोटों को परिवर्तनशील कहा जाय या न कहा जाय, इसपर बड़ा मतभेद है। मुद्दत में या नियत

समय के बाद धन देनेवाले सरकारी नोटों को भी परिवर्तन-शील नहीं समझा जाता।

(ग) अपरिवर्तनशील पत्रमुद्रा के द्वारा सरकार प्रचलित धातविक मुद्रा देने के लिये वाध्य नहीं होती। वहुधा यह भी देखने में आया है कि भयंकर आर्थिक विपत्ति में पड़कर राज्य परिवर्तनशील पत्रमुद्रा को अपरिवर्तनशील पत्रमुद्रा का रूप दे देते हैं। खजाने से रुपया या प्रचलित मुद्रा देना बन्द करते ही यह घटना उपस्थित होती है। लड़ाई के दिनों में भिन्न भिन्न टैक्सों तथा भूमियों के देने की प्रतिज्ञा पर भी सरकार अपरिवर्तनशील पत्रमुद्रा निकालती है। यह भी देखने में आया है कि बिना किसी संपत्ति या प्रतिज्ञा के आधार पर भिन्न भिन्न राज्य अपनी प्रभुत्व शक्ति के वल पर ही अपरिवर्तनशील मुद्राओं का प्रचार कर देते हैं। राज्य की शक्ति तथा प्रभुता के वहुत अधिक होने पर ही ऐसा संभव है।

मुद्रा के संचलन या प्रचार का मुख्य तत्व यह है कि उसको जनता स्वीकृत करे। जनता उसको लेनदेन, क्रय विक्रय तथा पारस्परिक व्यवहार का साधन बनावे। लोकप्रथा, राज्य-नियम, सामाजिक आचार तथा मुद्रा संचालन के अर्थ-संचय आदि अनेक कारण हैं जिनसे वाध्य होकर जनता अपरिवर्तन-शील पत्रमुद्रा के द्वारा अपना कार्य्य करना शुरू कर देती है। सोना तथा चाँदी क्षुधा की पूर्त्ति में असमर्थ हैं। प्रत्यक्ष तौर पर वह शरीर के पोषक नहीं हैं। परंतु चुँके समाज में उनकी प्रतिष्ठा है। आभूषण तथा शिल्पी पदार्थों में उनका प्रयोग

किया जाता है। सोने चाँदी की चीजों में समाज की विशेष रुचि है। इस प्रकार सामाजिक आचार के कारण उनकी मुद्रा सर्वमान्य हो गई है। हुंडी, विनिमय बिल तथा प्रामेसरी नोटों का प्रचार भी इसी लिये होता है कि जनता को नोटों के संचालक तथा प्रचारक की अर्थ-शक्ति पर पूर्ण विश्वास है। जब तक अपरिवर्तनशील पत्रमुद्रा अपनी सीमा को उल्लंघन नहीं करती, तब तक चलती रहती है। अधिक राशि में निकलते ही उसपर कटौती शुरू होती है। यदि इस पर भी उसका अधिक राशि में निकालना न बन्द किया जाय तो यह भी बहुत बार हो जाता है कि वह पारस्परिक व्यवहार का साधन नहीं रहती।

२—अपरिवर्तनशील पत्रमुद्रा के हानि-लाभ

अपरिवर्तनशील पत्रमुद्रा के बहुत ही अधिक लाभ तथा हानियाँ हैं। आदम स्मिथ ने पत्रमुद्रा को हवा की रेलगाड़ी से उपमा दी है। यदि रेलों को जमीन पर न चलाया जाय और जमीनों को खेती में लगा दिया जाय तो जो लाभ हो, ठीक वैसा ही लाभ पत्रमुद्रा के प्रयोग से है। सोना चाँदी खोदने में जनता की बहुत मेहनत तथा पूँजी नहीं लगती। विनिमय के माध्यम को उचित राशि में प्राप्त करने का कष्ट किसी हद तक पत्रमुद्रा के द्वारा कम हो जाता है। ईश्वर की कृपा से यदि कोई ऐसा रास्ता निकल आवे जिससे बिना चाँदी, सोने तथा धातु के

विनिमय तथा पारस्परिक व्यवहार का काम चल जाय तो सोने, चाँदी तथा धातु के खोदने में जनता की लगी बहुत सी मेहनत तथा पूँजी किसी अन्य आवश्यक काम में लगाई जा सके। पत्रमुद्रा के द्वारा जनता को बहुत ही लाभ पहुँचा है। परंतु बहुधा संचालकों या प्रचारकों के लोभ से इसके लाभ दोष में भी परिवर्तित किए जा चुके हैं। यह तभी होता है जब कि जरूरत से अधिक या अपनी सामर्थ्य से अधिक पत्रमुद्रा निकाली जाय।

धातविक मुद्रा की अपेक्षया पत्रमुद्रा का मूल्य अधिक अस्थिर है। सोने चाँदी का मूल्य सामाजिक आचार का परिणाम है। परंतु पत्रमुद्रा के मूल्य में यह बात नहीं है। राज्य में जनता का जहाँ तक विश्वास है, वहीं तक इसका मूल्य स्थिर है। पत्रमुद्रा का एक जाति या समाज में ही महत्व होता है, उसकी सीमा को पार करते ही दूसरे देश में उसका कुछ भी मूल्य नहीं रहता। पत्रमुद्रा के क्षेत्र के परिमित होने से उसके मूल्य में चंचलता बहुत शीघ्रता के साथ आ जाती है। सोने चाँदी में यह बात नहीं है, उनकी प्रतिष्ठा सार्वभौम है। संसार के सभी सभ्य लोग उनका आदर करते हैं और उनको लेना चाहते हैं। क्षेत्र विस्तृत होने से सोने चाँदी का मूल्य स्थिर है। पत्रमुद्रा निकालना राज्य या बैंक पर निर्भर है। जरूरत पड़ने पर लोभ में आकर वह कुछ ही घंटों के बीच में करोड़ों रुपयों के नोट निकाल सकते हैं। परंतु सोने चाँदी

की राशि का वढ़ाना किसी राज्य या वैंक की शक्ति में नहीं है। उसकी राशि के वढ़ाने के लिये वहुत ही अधिक मेहनत या पूँजी के वढ़ाने की जरूरत है। इस पर भी सोने चाँदी की राशि बढ़ेगी या नहीं, यह संदेह वना ही रहता है।

धातविक-मुद्रा व्यवहार का काम करते हुए घिसती रहती है। इससे बहुत सी मेहनत तथा पूँजी वृथा ही नष्ट होती है। पत्रमुद्रा का सबसे बड़ा लाभ यह है कि इसके चलने से धातु की मुद्राओं की जरूरत कम हो जाती है और जाति धातु के नुकसान तथा घिसने से बच जाती है। बड़े बड़े लेनदेन में पत्रमुद्रा के द्वारा बहुत सी सुगमताएँ हो जाती हैं। बीमे के द्वारा नोटों के वाहर भेजने में खर्च भी कम लगता है। मनिआर्डर के द्वारा धन भेजने में खर्च बहुत ही अधिक होता है। राज्यों को राजकार्य्य चलाने में भी पत्रमुद्रा के द्वारा सहारा मिलता है। अर्थ की तंगी में पड़े हुए और अधिक व्याज पर धन लेने में असमर्थ राज्य अपना कार्य्य पत्रमुद्रा के द्वारा चला सकते हैं और प्रायः ऐसा करते भी हैं। उनको जिस बात का ध्यान रखना चाहिए, वह यही है कि भूल से भी पत्रमुद्रा की राशि देश की जरूरत से अधिक न वढ़ने पावे।

एकमात्र धातु की मुद्रा चलानेवाले राष्ट्रों में धातु का गमनागमन इसकी माँग पर निर्भर है। पत्रमुद्रा के प्रचलित करने पर यह बात नहीं रहती। मांग के न होने पर भी पत्रमुद्रा की संख्या वढ़ जाती है। व्यापार शिथिल हो, कीमतें घट रही हों

और मुद्रा की माँग बहुत ही कम हो, इसपर भी राज्य पत्रमुद्रा की संख्या बढ़ा देते हैं। माँग के अनुसार पत्रमुद्रा की वृद्धि तथा कमी नहीं होती। धातु-मुद्रावाले देश जब पत्रमुद्रा प्रचलित करते हैं तब धातु की मुद्राएँ ग्रेशम के नियम के अनुसार व्यवहार से उठ जाती हैं। उनका संचलन तथा प्रचार कम हो जाता हैं। पत्रमुद्रा निकालकर राज्य धातुमुद्रा को खींच लेते हैं और अपने विदेशीय ऋण चुकता करते हैं। बहुधा शिल्पी कामों में भी धातु मुद्राओं का प्रयोग किया जाता है। जो लोग सोने चाँदी से अधिक प्रीति रखते हैं वह उनको अपने घरों में गाड़ देते हैं। सारांश यह है कि पत्रमुद्रा धातु-मुद्रा को व्यवहार से उठाकर उसका स्थान स्वयं ग्रहण कर लेती है। परंतु यह घटना कितने समय में घटित होगी, यह बहुत सी बातों पर निर्भर है। यदि देश का व्यापार उन्नति पर हो, कीमतें चढ़ रही हों, मुद्रा की माँग बढ़ी हुई हो, तो पत्रमुद्रा के निकलने पर भी धातुमुद्रा व्यवहार का काम करती रहेगी। क्योंकि पत्रमुद्रा बढ़ी हुई जरूरतों को पूरा करने में काम आ जायगी। परंतु यदि यह बात न हो तो पत्रमुद्रा के निकलते ही धातुमुद्रा व्यवहार से उठती जायगी। ज्यों ज्यों पत्रमुद्रा बढ़ेगी, त्यों त्यों धातुमुद्रा लुप्त होती जायगी। ऐसा भी समय आ सकता है कि पत्रमुद्रा अपनी सीमा का उल्लंघन कर जाय। लोग उसके लेने में हिचकने लगें। विदेशीय तथा परराष्ट्र के नागरिक तो उसको ले ही नहीं सकते। परिणाम

इसका यह होगा कि पत्रमुद्रा दाम में घटते घटते बहुत ही घट सकती है। आजकल जर्मन मार्क्स पाउंड में बीस के बदले हजारों से ऊपर मिलने लगे हैं। यह क्यों? यह इसी लिये कि जर्मन राज्य ने हरजाने में अपरिमित स्वर्ण देने के लिये पत्रमुद्रा निकाल दी और इतनी अधिक निकाल दी कि उसका दाम बहुत ही अधिक गिर गया।

३—पत्रमुद्रा का आधिक्य तथा कीमत

पत्रमुद्रा की अधिकता का सबसे पहला प्रभाव यह है कि धातविक मुद्रा व्यवहार में नहीं रहती। सोने पर कटौती पड़ने लगती है। पत्रमुद्रा के निर्दिष्ट मूल्य से अधिक मूल्य पर सोना चाँदी मिलने लगता है। पदार्थों का सोने चाँदी के साथ जो संबंध होता है वह तो ज्यों का त्यों बना रहता है; क्योंकि विदेशीय व्यापार का आधार सोना चाँदी ही है। पत्रमुद्रा के अधिक संख्या में निकलने पर देश में सोने चाँदी का दुर्भिक्ष पड़ जाता है और जिनको इन धातुओं की विशेष आवश्यकता होती है उनको विदेश से डले के रूप में मँगाने में अधिक दाम देना पड़ता है। उसका विनिमय की दर पर अच्छा प्रभाव नहीं पड़ता। वह चढ़ जाती है।

विनिमय बिलों के द्वारा ही विदेशी कंपनियों को धन चुकता किया जाता है। विनिमय बिलों की बाजार-दर सोने में ही होती है। यदि अमेरिका की पत्रमुद्रा दो प्रति शतक तक दाम में गिर जाय, तो एक हजार पाउंड के विनिमय बिल

के लिये अमेरिका को ४८७० डालर देने के स्थान पर ४६६८ डालर देने पड़ें। शारांश यह है कि पत्रमुद्रा की अधिकता विदेशी व्यापार को धक्का पहुँचाती है। आजकल जर्मन मार्क्स के दाम गिरने से इंग्लैंड के लिये मध्य यूरोप का बाजार बंद हो गया है। एक पाउंड के बदले बीस मार्क्स मिलने के स्थान पर आजकल हजारों से ऊपर मार्क्स मिलते हैं। जब तक जर्मन पदार्थों की कीमतें मार्क्स के दाम के गिरने के अनुपात में नहीं चढ़ जातीं, तब तक उसके माल का विदेश में जाना सुगम रहेगा। अर्थात् मार्क्स के दाम गिरने के कारण विदेशीय राष्ट्र जर्मन माल सस्ता होने से अधिक मँगावेंगे। इसके विपरीत जर्मनी के लोग इंग्लैंड या फ्रांस से माल मँगाने में सर्वथा ही असमर्थ हो जायँगे। इंग्लैंड, फ्रांस तथा अमेरिका को सबसे बड़ी चिंता इसी लिये है कि मार्क्स के गिरने से सारा मध्ययूरोप उनका माल खरीदने में असमर्थ हो गया है।

मार्क्स का दाम आजकल पत्रमुद्रा में ही प्रकट किया जाता है। एक पाउंड के बदले बीस मार्क्स मिलते थे। परन्तु चूँकि जर्मनी में धातविक मुद्राओं का सर्वथा ही अभाव हो गया है और हरजाने के दबाव में पड़कर राज्य को अपेक्षा से बहुत ही अधिक पत्रमुद्रा निकालनी पड़ी है, इसलिये पत्रमुद्रा ही जर्मनी की मुख्य मुद्रा बन गई है और विदेशी बाजार दर धातविक मुद्रा के स्थान पर पत्रमुद्रा में ही प्रकट की जाने लगी है।

पत्रमुद्रा में यदि बहुत ही अधिक दाम का गिराव न हो तो राष्ट्र की कीमतों पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता, पुराने संबंधों तथा परिस्थितियों के जाल में जकड़ी कीमतें ज्यों की त्यों स्थिर बनी रहतीं; परंतु ज्यों ही वह जाल कीमतों के अधः-पात को सँभालने में असमर्थ हो जाता है, त्यों ही कीमतें पत्र-मुद्रा के साथ साथ बदलने लगती हैं। ज्यों ज्यों पत्रमुद्रा का दाम गिरता है त्यों त्यों कीमतें भी पलटती चलती हैं।

यह परिवर्तन किस सीमा तक होता है, यही विचारणीय है। यह पूर्व में ही लिखा जा चुका है कि मुद्रा का राशि-सिद्धांत यदि किसी घटना में सच है तो वह अपरिवर्तनशील पत्रमुद्रा संबंधी घटना ही है। यह क्यों ? यह इसी लिये कि एकमात्र अपरिवर्तनशील पत्रमुद्रा ही ऐसी मुद्रा है जिसका मूल्य व्यापारीय माँग पर निर्भर है। पदार्थों की सीमांतिक उपयोगिता के सदृश ही इसकी सीमांतिक उपयोगिता होती है। यदि अन्य अवस्थाएँ पूर्ववत् बनी रहें तो अपरिवर्तनशील पत्रमुद्रा की संख्या के दुगुना करते ही उसकी कीमत आधी रह जाती है। यदि यह न हो तो पदार्थों की कीमतें दुगुनी हो जाती हैं। पत्रमुद्रा की संख्या का बढ़ना यदि क्रमिक हो तो उसकी कीमतों में परिवर्तन भी क्रमिक रहता है। परंतु यदि यह न हो और पत्रमुद्रा की संख्या सहसा बढ़ जाय तो उसकी कीमतों का अधःपतन सुगमता से नहीं जाना जा सकता। हरजाने का धन देने से पूर्व किसको इस बात का

अनुमान हो सकता था कि जर्मन मार्क्स बीस के स्थान पर पाउंड के बदले हजारों से ऊपर मिलने लगेंगे ?

एक देश में पत्रमुद्रा की संख्या के अधिक राशि में निकलते ही दूसरे देशों के पदार्थों की कीमतें भी चंचल हो जाती हैं। आम तौर पर यह घटना उस समय विशेष रूप में प्रत्यक्ष होती है जब कि किसी राष्ट्र का सारा सोना चाँदी कारणवश दूसरे राष्ट्रों में चला जाय। जिन जिन राष्ट्रों में वह सोना चाँदी जाता है, शिल्पी पदार्थों में उसका प्रयोग करते हुए भी कुछ न कुछ अंश उसका धातुमुद्राओं में परिणत हो ही जाता है और इस प्रकार कीमतों को चढ़ा देता है। धीरे धीरे एक राष्ट्र की चढ़ी कीमतें दूसरे राष्ट्रों की कीमतों को भी चढ़ा देती हैं। अंत में वह समय भी आ जाता है जब कि पत्रमुद्रा को अधिक संख्या में निकालनेवाले राष्ट्र की कीमतें भी संसार की कीमतों के साथ सहानुभूति प्रकट करते हुए चंचल हो जाती हैं और ऊपर की ओर चल पड़ती हैं।

जर्मन मार्क्स के अधःपतन ने भारत में तो एक और नई समस्या पैदा कर दी है। दो साल पहले भारत सरकार ने दो शिलिङ्ग रुपए की विनिमय दर नियत की और पिछले साल के बजट् में भी बड़ी कोशिश की कि किसी प्रकार से बड़ी विनिमय की दर प्रचलित हो जाय। शुरू शुरू में तो उस ओर कुछ कुछ सफलता मिली। विनिमय की दर १ शि. ४ पेन्स से १ शि. ५½ पेन्स तक पहुँची। परंतु मार्क्स के दाम के गिरते ही

भारतीयों ने मार्क्स में सट्टा खेला और करोड़ों रुपयों के जर्मन मार्क्स खरीद लिए। इसका परिणाम यह हुआ कि फिर से विनिमय की दर १ शि. ४ पेन्स तक पहुँच गई।

उल्लिखित संदर्भ का जो कुछ निचोड़ है, वह यही है कि पत्रमुद्रा की संख्या के अधिक राशि में निकलते ही निम्न-लिखित तीन घटनाएँ क्रमशः पैदा होती हैं—

(१) पत्रमुद्रा का अधिक संख्या में निकलानेवाले राष्ट्र की कीमतें क्रमशः चढ़ने लगती हैं।

(२) यदि पत्रमुद्रा की संख्या बहुत ही अधिक हो तो उसके व्यापार को भयंकर धक्का पहुँचता है। सोने के आधार पर पत्रमुद्रा का दाम बड़ी तेजी के साथ घटने लगता है।

(३) व्यापारी व्यवसायी पत्रमुद्रा के मूल्य को घटता हुआ देखकर उसको लेने से हिचकने लगते हैं और इस प्रकार पत्र-मुद्रा के मूल्य को और भी अधिक गिरा देते हैं।

४—पत्रमुद्रा के मूल्य का अधःपतन तथा उसका उपाय

पत्रमुद्रा के अधिक संख्या में निकलने से पदार्थों की कीमतों में भेद उत्पन्न हो जाता है। पदार्थों को सामने रखते हुए पत्रमुद्रा के मूल्य में उतना फरक नहीं मालूम पड़ता जितना कि सोने को सामने रखते हुए। इसका मुख्य कारण यह है कि पदार्थों की कीमतें शनैः शनैः बदलती हैं जब कि सोने की कीमतों में यह बात नहीं है। सोने की कीमतें क्षण में ही घटती हैं और क्षण में ही बढ़ती हैं।

पत्रमुद्रा के मूल्य को कम होने से रोकने के लिये कई तरीकों को काम में लाया जाता है। प्रायः राज्य पत्रमुद्रा में राजकर लेना स्वीकार कर लेते हैं। यदि पत्रमुद्रा की अधिकता परिमित हो और उसकी संख्या के बढ़ाने में राज्य सावधान हो तो इस तरीके से काम निकल आता है। परंतु अनुभव यही बताता है कि इससे पत्रमुद्रा का मूल्य गिरने से कुछ समय के लिये ही रुकता है। क्योंकि राज्य पत्रमुद्रा इस सीमा तक अधिक निकाल देते हैं कि राज-कर में ग्रहण करते हुए भी उसके मूल्य को स्थिर नहीं कर सकते। सबसे बड़ी बात तो यह है कि राजकर में पत्रमुद्रा को ग्रहण करना या राजकर सर्वथा ही न लेना एक ही अर्थ रखता है। यह तभी संभव है जब कि राज्य की आमदनी जरूरत से अधिक हो। यदि राज्य पहले ही आमदनी से अधिक खर्च कर रहा हो तो राजकर में पत्रमुद्रा को वह कब तक ग्रहण कर सकता है? यदि जनता को धोखा देने के लिये और अपनी साख निराधार बैठाने के लिये उसने कोशिश भी की तो फल क्या होगा? एक हाथ से वह पत्रमुद्रा राजकर में लेगी और दूसरे हाथ से उसको फिर से प्रचलित कर देगी। इस प्रकार पत्रमुद्रा की संख्या ज्यों की त्यों अधिक होकर दाम में गिर जायगी।

आम तौर पर राज्य जनता को अपरिवर्तनशील पत्रमुद्रा के बदले धन देने की प्रतिज्ञा कर देते हैं। परंतु इससे भी प्रायः पत्रमुद्रा का दाम गिरने से नहीं रुकता; क्योंकि जरूरत से

जो चीज़ ज्यादा हो उसका दाम कब तक स्थिर रह सकता है? माना कि कुछ एक सट्टेबाज अपनी सामर्थ्य भर अपरिवर्तनशील नोटों को खींचें और कम दाम पर उनको खरीदकर संदूकों में भर लें। परंतु प्रश्न तो यह है कि क्या वह पत्र-मुद्रा की सारी अधिकता को कम कर सकते हैं? यदि यह बात नहीं तो पत्रमुद्रा का दाम इस तरीके से भी नहीं रुक सकता। असल बात तो यह है कि सट्टेबाज भी तभी पत्रमुद्रा को संदूकों में भरते हैं जब कि उसको कम दाम पर खरीदते हैं। प्रायः उसके दामों को गिराने में भी वही कारण होते हैं। जिस हद तक पत्रमुद्रा का दाम न भी गिरता, अपने लाभ को सामने रखते हुए वह लोग उसके दाम को उस हद तक भी गिरा देते हैं। यही कारण है कि राज्य की साख पत्र-मुद्रा की अधिकता से उत्पन्न दोषों को दूर करने में असमर्थ है।

५—अपरिवर्तनशील पत्रमुद्रा के दोष तथा लाभ

अपरिवर्तनशील पत्रमुद्रा की अधिकता से व्यापार तथा व्यवसाय अस्थिर हो जाता है। व्यापारियों तथा व्यवसायियों में सट्टे की आदत बहुत ही अधिक बढ़ जाती है। बुद्धि तथा विवेक को जूए पर बलि चढ़ा दिया जाता है। बिना मेहनत के अमीर बनने की इच्छा जनता में प्रबल हो जाती है। पत्रमुद्रा की अधिक संख्या प्राप्त कर सभी अपने आपको अमीर समझने लगते हैं और प्रायः खर्च भी बढ़ा देते हैं। बेचारे

मेहनतियों को विशेष तकलीफ उठानी पड़ती है; क्योंकि उनका मेहनताना नियत होता है और व्यवसायपति प्रायः उनको वेतन तथा भृति पत्रमुद्रा में ही देते हैं।

अपरिवर्तनशील पत्रमुद्रा के उल्लिखित दोषों के सदृश ही लाभ भी हैं। भयंकर आर्थिक विपत्ति में पड़कर राज्य अपरिवर्तनशील पत्रमुद्रा के द्वारा ही अपना काम चला लेते हैं और उधार लिए हुए धन के दोषों से बच जाते हैं। धन के उधार लेने पर व्याज देना पड़ता है। अपरिवर्तनशील पत्रमुद्रा में यह बात नहीं है।

अपरिवर्तनशील पत्रमुद्रा को एक तरीके से राजकर ही समझना चाहिए। इस ढंग के राजकर का सबसे बड़ा दोष यह है कि यह सब व्यक्तियों पर समान तौर पर नहीं पड़ता है। प्रायः बेचारे गरीब ही इसके शिकार होते हैं। अपरिवर्तनशील पत्रमुद्रा की शराब से तुलना की जाती है। राज्यों को जहाँ इसका नशा चढ़ा, वह अपने ऊपर नियंत्रण रखने में असमर्थ हो जाते हैं। वह अनंत राशि में अपरिवर्तनशील पत्रमुद्रा निकालना शुरू कर देते हैं और इस प्रकार जनता की आर्थिक स्थिति को भयंकर धक्का पहुँचाते हैं।

राज्यों को अपरिवर्तनशील पत्रमुद्रा की संख्या बढ़ाते हुए देखकर कर्जदार लोग प्रसन्न होते हैं; क्योंकि बहुत कम धन देकर ही वह अपने पुराने कर्जों को चुकता करने में समर्थ हो जाते हैं।

अपरिवर्तनशील पत्रमुद्रा की अधिकता से हरजाने के धन को चुकता करने का अर्वाचीन उदाहरण जर्मनी है। जर्मनी ने मार्क्स का दाम गिराकर अपने कर्ज का धन दे दिया। नेपोलियन-युद्ध के दिनों में बैंक आव् इंग्लैंड ने, सिविल वार में अमेरिका ने और १७८९ की राज्यक्रांति में फ्रांस ने अपरिवर्तनशील पत्रमुद्रा का ही सहारा लिया था।

सन् १७७५ में अमेरिका की कांटिनेंटल कांग्रेस ने एक करोड़ डालर्स के नोट निकाले। स्वतंत्रता की उद्घोषणा करने के समय तक एक करोड़ पचास लाख डालर्स के नोट प्रचलित कर दिए गए। अगले चार सालों में नोटों की संख्या बढ़ते बढ़ते दो करोड़ चालीस लाख तक जा पहुँची। इसका परिणाम यह हुआ कि इसका दाम बड़ी तेजी के साथ गिरने लगा और १७८१ में इसका दाम शून्य तक पहुँच गया। इसके बाद १८६२ में अमेरिकन कांग्रेस ने पुनः १५०००००० डालर्स के ग्रीनबैक्स नामक नोट निकाले। चार ही महीने के बीच में १५०००००० डालर्स के और नोट निकाले गए। लड़ाई के दिनों में इनकी कुल संख्या ४५०००००० डालर्स तक जा पहुँची। १८६४ में ग्रीनबैक्स का दाम घटते घटते एक डालर के स्थान पर ३५ सेन्ट ही रह गया। १८७९ में इसके दामों का उद्धार किया गया।

अमेरिका के सदृश ही १७८९ में फ्रांस की राज्यक्रांतिकारिणी शासक-समिति ने एसिग्नेट् नामक नोट निकाले

और इनके बदले पादरियों की जमीनें देने की प्रतिज्ञा की। जनता में यह चल सकें, इस उद्देश्य से बैंक-नोट चलने से रोक दिए गए। १७९६ में इनका दाम बहुत ही अधिक गिर गया। अंत में मैंडेट्स नामक नोटों के द्वारा इनके दामों का उद्धार किया गया।

इन सब उदाहरणों से जो कुछ परिणाम निकलता है, वह यही है कि अपरिवर्तनशील पत्रमुद्रा की अधिकता समाज के लिये भयंकर वस्तु है। राज्यों को चाहिए कि पत्रमुद्रा पर कटौती पड़ते ही सावधान हो जायँ।

———o———

दसवाँ परिच्छेद

परिवर्त्तनशील पत्रमुद्रा

१—परिवर्त्तनशील पत्रमुद्रा का प्रचार तथा लाभ

परिवर्त्तशील पत्रमुद्रा का तात्पर्य्य यह है कि जो व्यक्ति, बैंक या राज्य परिवर्त्तनशील पत्रमुद्रा को निकाले, वह आवश्यकतानुसार व्यक्तियों को उसके बदले धन अर्थात् धातविक मुद्राएँ दे दे। एक तरीके से इसको दर्शनी हुंडी समझना चाहिए। जिस प्रकार दर्शनी हुंडी दिखाते ही व्यापारियों को उसका धन एकदम दे देना पड़ता है, उसी प्रकार परिवर्त्तनशील पत्रमुद्रा दिखाते ही और उसके बदले धातविक मुद्राओं को माँगते ही राज्य या बैंक को धातविक मुद्राएँ एकदम से दे देनी पड़ती हैं। यदि कोई राज्य या बैंक परिवर्त्तनशील पत्रमुद्रा के बदले धातविक मुद्राओं के स्थान पर कोई और पदार्थ दे, तो उसको अपरिवर्त्तनशील ही समझना चाहिए।

शुरू शुरू में युरोप में परिवर्त्तनशील पत्रमुद्रा का प्रचार बैंकों ने ही किया था। अब तक बहुत से राष्ट्रों में यही बात मौजूद है। भारतवर्ष तथा अमेरिका में आजकल राज्य ही यह काम को करते हैं।

नोटों या परिवर्तनशील पत्रमुद्राओं को निकालने से पूव राज्य उनके बदले में उतना ही धन अपने खजाने में जमा कर देते हैं। यही कारण है कि बहुत से लेखक इसको एक प्रकार की प्रतिनिधि-मुद्रा ही समझते हैं। परंतु कभी कभी राज्य खास खास प्रकार के नोटों के बदले धातविक मुद्राएँ या सोना-चाँदी खजाने में नहीं रखते; वे अपनी साख पर ही उनका प्रचार करते हैं। उनपर कटौती रोकने के लिये और उनका दाम नीचे न गिरने देने के लिये उनके बदले भी कुछ न कुछ धन खजाने में जमा ही रखा जाता है और आवश्यकता-नुसार उनके बदले रुपया दे दिया जाता है। अमेरिका में ग्रीन-बैक नामक नोट इसी प्रकार निकाला गया है।

परिवर्त्तनशील पत्रमुद्रा में वह सब लाभ मौजूद हैं जो किसी एक पत्रमुद्रा में होने चाहिएँ। सोने-चाँदी के घिसने से जो नुकसान समाज को होता है, व्यापारियों को धातुओं के इधर-उधर लादकर ले जाने में जो तकलीफ उठानी पड़ती है, रुपयों को मनीआर्डर द्वारा भेजने में जो उनका खर्च अधिक बैठता है, इन सब बातों को दूर कर देना ही परिवर्त्तनशील पत्रमुद्रा का सबसे बड़ा लाभ है। राज्य को आराम इस बात का है कि वह राजकर बढ़ाए बिना ही जरूरत के हिसाब से नोट निकालकर अपना काम चला लेता है।

परिवर्त्तनशील पत्रमुद्रा के सबके सब लाभ उस समय पानी में मिल जाते हैं जब कि जनता जल्दी जल्दी नोटों के

बदले रुपए माँगना शुरू कर देती है। क्योंकि इस बात से नोट निकालने का तात्पर्य्य सिद्ध होता ही नहीं, अपितु राजकोष में बहुत सा धन जमा करने और उसको सँभालने का भार राज्य को वृथा ही उठाना पड़ता है।

राज्य ज़रूरत से अधिक पत्रमुद्रा न निकाले, इस उद्देश से सभी लोकतंत्र-राज्यों में पत्रमुद्रा की राशि नियत है। राज्य नियत राशि के ऊपर पत्रमुद्रा तब तक नहीं निकाल सकते जब तक कि वह लोकसभा से न पूछ लें। इस नियम के कारण राज्य द्वारा पत्रमुद्रा का निकालना बहुत लाभदायक नहीं रहा है। पत्रमुद्रा निकालने में राज्य की शक्ति परिमित होने से व्यापारीय जरूरतों के अनुसार नोट नहीं निकलते। परिवर्त्तन-शील पत्रमुद्रा में व्यापार के घटने-बढ़ने के साथ ही साथ घटने-बढ़ने की शक्ति होनी चाहिए। रबड़ के सदृश ही उसमें लचक होनी चाहिए। खींचते ही वह बढ़ जाय और छोड़ते ही वह घट जाय। राजकीय नोटों में यही लचक नष्ट कर दी गई है। यही कारण है कि बहुत से लोकतंत्र-राष्ट्रों में नोट निकालने का काम बैंकों के हाथ में दिया गया है ताकि नोटों में लचक बनी रहे।

नोट संचालन का बैंकिंग सिद्धांत तथा मुद्रा-सिद्धांत

बैंक-नोट की लचक के संबंध में जो मतभेद है, उसीसे ये दो सिद्धांत प्रचलित हो गए हैं—

(१) बैंकिंग सिद्धांत और (२) मुद्रासिद्धांत।

बैंकिंग सिद्धांत के अनुसार उत्तम, अनुभवी तथा सावधान बैंकों के द्वारा नोट निकालने में अधिकता का भय कुछ भी नहीं रहता। साधारण धातविक मुद्रा के सदृश ही पत्रमुद्रा चलती रहती है। इसके विपरीत मुद्रा-सिद्धांत के पक्षपातियों का मत है कि यदि पत्रमुद्रा के स्थान पर समान मूल्य की धातु रख ली जाय और अन्य बहुत से उपाय किए जायँ तो आधिक्य का भय नहीं रहता; पत्रमुद्रा लिखित मूल्य पर ही चलती रहती है। बैंकिंग-सिद्धांत तथा मुद्रासिद्धांत में जो कुछ भेद है, वह यह है कि पहला अधिक रोकने के उपायों को निरर्थक समझता है और योग्य बैंकों के द्वारा नोट निकालना (पत्रमुद्रा की अधिकता रोकने के लिये) ही पर्य्याप्त समझता है; परंतु दूसरा बैंकों के द्वारा नोट निकालने में भी अधिकता की आशंका करता है और इसी लिये अधिकता रोकने के लिये भिन्न भिन्न उपायों का अवलंबन करना आवश्यक समझता है। मुद्रा-सिद्धांत के पक्षपातियों का मत है कि बैंक धरोहर में रखते हुए और नोटों के बदले धातु मुद्रा देते हुए भी नोटों को अधिक राशि में निकाल सकते हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि बैंकों के द्वारा नोटों के निकलते ही मुद्रा की अधिकता से कीमतें चढ़ जाती हैं। कीमतों को चढ़ता हुआ देखकर व्यापार व्यवसाय उन्नत होने लगता है और तेजी आ जाती है। उस तेजी के साथ ही साथ विनिमय के माध्यम की जरूरत बढ़ जाती है और बैंक अधिक नोट निकालकर उस जरूरत को और भी अधिक बढ़ा देते हैं।

मुद्रासिद्धांत में जो कुछ सचाई है, वह स्पष्ट ही है। सभी जातियाँ ख़तरों से बचना चाहती हैं और पत्रमुद्रा की अधिकता को रोकना आवश्यक समझती हैं। यही कारण है कि मुद्रा सिद्धांत के आधार पर ही आजकल नोट-प्रकाशक बैंकों का संघटन किया गया है। बैंक आफ इंग्लैण्ड, रीश बैंक आफ जर्मनी, नैशनल बैंक आफ यूनाइटेड् स्टेट्स आदि बैंक मुद्रा-सिद्धांत के ही उदाहरण हैं। इनको नोट निकालने का अधिकार है; परंतु वह अधिकार कई तरीकों से परिमित किया गया है। इसके विपरीत बैंक आफ फ्रांस बैंकिंग सिद्धांत पर ही संघटित है। वह स्वेच्छानुसार नोट निकाल सकता है।

मुद्रा-सिद्धांत पर चलनेवाले उल्लिखित तीनों बैंकों को नोट निकालने से पूर्व उतने मूल्य की धातु या धातुमुद्राएँ धरोहर में जमा करनी पड़ती हैं; परंतु कार्य रूप में ऐसा नहीं होता। प्रायः मुद्रा सिद्धांत के अनुसार काम नहीं हो सकता; क्योंकि पूर्ण रूप से उस पर चलने में बहुत ही अधिक असुबिधाओं का सामना करना पड़ता है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि आजकल चेक के द्वारा ही बहुत से काम किए जाते हैं। १९०४ की २२ जनवरी को अमेरिका के नैशनल बैंक के नोटों की संख्या ३८०९९२३०७ डालर के लगभग थी। इसके विपरीत उन्हीं बैंकों में ३३००६१६८७८ डालर भिन्न भिन्न लोगों के जमा थे जिन पर चेक निकाला जा सकता था। आजकल तो चेक तथा धरोहर का प्रभाव बहुत ही अधिक बढ़ गया है।

सब उद्देश्यों को सामने रखते हुए यह कहा जा सकता है कि धरोहर में पर्य्याप्त अधिक धन जमा रहना चाहिए। उसको बिना निरर्थक तथा निश्चेष्ट रखे जनता को दुर्घटनाओं से नहीं बचाया जा सकता। सरकारी कागजों में भी उसको लगाना ठीक नहीं है। क्योंकि यह आवश्यक नहीं है कि ज़रूरत पड़ते ही सरकार उसके बदले बैंक को सोने-चाँदी के रूप में धन दे दे। हमारी समझ में नोट-संबंधी प्रबंध प्रसिद्ध प्रसिद्ध बैंकों के हाथ ही छोड़ देना चाहिए और उनको प्रलोभनों से बचाने के लिये कुछ राज-नियम भी बना देने चाहिएँ।

नोटों का संचालन

राज्य तथा बैंक में कौन नोटों का संचालन करे, इस पर बहुत ही अधिक मतभेद है। भारतवर्ष में शुरू शुरू में प्रांतीय बैंक ही नोट निकालते थे; परंतु अंत में राज्य ने यह अधिकार छीन लिया और स्वयं नोट निकालना शुरू किया। सरकार को नोट न निकालना चाहिए, इस पक्ष में निम्नलिखित युक्तियाँ पेश की जाती हैं—

पहली युक्ति यह है कि नोट निकालना सरकार का काम नहीं है। इस युक्ति में दोष यह है कि अभी तक किसी ने भी राज्य के काम नियत नहीं किए। भिन्न भिन्न राज्य सामुद्रिक चुंगी आदि जब जनता की दृष्टि से लगा सकते हैं, तब एक नोट निकालने को ही उनके कर्त्तव्य-क्षेत्र से कैसे पृथक् किया जा सकता है?

दूसरी युक्ति यह है कि राज्यों का नोट निकालना जनता के हित को सुरक्षित नहीं रख सकता। अनुभव यही सूचित करता है कि राज्यों ने अपने इस अधिकार का समय समय पर दुरुपयोग किया है। यदि यह कहा जाय कि मुद्रानिर्माण के सदृश ही नोट निकालने का अधिकार भी राज्य को ही होना चाहिए, तो यह ठीक नहीं है; क्योंकि मुद्रा निकालना तथा नोट निकालना भिन्न भिन्न बातें हैं। नोट का आधार साख है जब कि सोने-चाँदी की मुद्राओं का आधार यह नहीं है। यदि राज्य साख का प्रयोग करने लगे, तो वह जनता को बहुत हानि पहुँचा सकता है। भारत में नोटों की अधिकता इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है।

तीसरी युक्ति यह है कि नोटों के निकालने के अधिकार का दुरुपयोग बैंकों की अपेक्षा राज्य के द्वारा अधिकतर संभव है। सरकारी कर्मचारी व्यापारीय ज़रूरतों से अधिक नोट निकाल सकते हैं। युद्ध का भार, सैनिक खर्चों का दबाव तथा व्यापारीय ज़रूरतों का मिथ्या ज्ञान आदि अनेक कारण हैं जिनसे प्रेरित होकर वह लोग नोटों के आधिक्य से जनता को नुकसान पहुँचा सकते हैं।

चौथी युक्ति यह है कि राज्य नोटों को अधिक राशि में निकालकर उसके बदले धन राज-करों को बढ़ाकर देते हैं। इस युक्ति में भी पर्य्याप्त कधिक सच्चाई है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि राज्य के द्वारा नोटों का संचालन

उचित नहीं है। बैंकों के हाथ में ही इसका अधिकार होना चाहिए। माना कि बैंकों का हित तथा जनता का हित प्रायः प्रतिकूल होता है, परंतु इसके सिवा दूसरी विधि ही कौन सी है। नोटों का अधिक प्रचार होना चाहिए, इसको तो सभी विद्वान् स्वीकृत करते हैं। समष्टिवादी तो इसी पर समाजका आर्थिक संघटन स्थापित करना चाहते हैं। इस हालत में यही कहा जा सकता है कि राज्य को ऐसी बाधाएँ रखनी चाहिएँ जिनसे बैंक अपने नोट निकालने संबंधी अधिकार का दुरुपयोग न कर सकें। संसार के भिन्न भिन्न बैंकों का इतिहास इसी बात को सूचित करता है कि राज्य के निरीक्षण से आर्थिक दुर्घटनाओं की संभावना बहुत कुछ दूर की जा सकती है।

मुद्रा-सिद्धांत की सबसे बड़ी त्रुटि यह है कि उसमें वास्तविक घटनाओं को सामने नहीं रखा जाता। बैंकों का पत्रमुद्रा के अधिक निकालकर व्यापार व्यवसाय को उत्तेजित करना और उत्तेजित दशा को अधिक संख्या में पत्रमुद्रा निकालकर भयंकर उग्र रूप देना कल्पित है। क्योंकि व्यापारी व्यवसायियों को उधार पर या हुंडियों को डिस्काउन्ट पर काटकर धातु-मुद्रा के स्थान पर पत्रमुद्रा दे दी जाती है। प्रश्न जो कुछ है वह यही है कि बिना व्यापारियों तथा व्यवसायियों की जरूरत के बैंक पत्रमुद्रा कैसे निकाल सकते हैं? यदि यह बात नहीं है तो मुद्रा सिद्धांत पक्षपातियों की उल्लिखित आधिक्य संबंधी युक्ति में कुछ भी सचाई नहीं मालूम पड़ती।

यह सब होते हुए भी भिन्न भिन्न राष्ट्रों में मुद्रा सिद्धांत को ही महत्व दिया गया है और कई तरीकों से वैंकों के नोट निकालने संवंधी अधिकार को रोका गया है, जिनमें से कुछ एक इस प्रकार हैं—

(क) नोटों की राशि का नियत करना—इस विधि के द्वारा नोट निकालने की अधिक से अधिक संख्या नियत कर दी जाती है। सिद्धांत यह है कि एक विशेष राशि तक मुद्रा की जरूरत व्यापारी व्यवसायियों को सदा ही रहती है। फ्रांस में ५००००००००० फ्रैंक्स के नोट राष्ट्रीय वैंक निकाल सकता है। वस्तुतः यह अधिकार आर्थिक दृष्टि से दुर्घटनाओं को रोकने में असमर्थ है। नोट की संख्या तथा उसके वदले धरोहर में रखे धन के अनुपात के साथ ही आर्थिक दुर्घटनाओं का घनिष्ट संवंध है। यदि नोट उल्लिखित धन के ही निकाले जायँ और उनके वदले धरोहर में यथेष्ट धन न रखा जाय तो आर्थिक दुर्घटनाएँ उपस्थित हो सकती हैं और उनसे वचना कुछ भी सुगम न रहे।

स्पष्ट है कि वैंक का सुप्रवंध ही नोट की अधिकता के दुष्परिणामों से जनता को वचा सकता है। फ्रांस के राष्ट्रीय वैंक का प्रवंध वहुत ही उत्तम है। संसार में वहुत थोड़े वैंक होंगे जो उसका मुकावला कर सकें। प्रायः उनमें नोटों का दो तिहाई या तीन चौथाई धन सदा ही धरोहर में जमा रहता है। कभी कभी तो नोटों के मूल्य के वरावर ही धन धरोहर

में रखा रहता है। परंतु इसका यह तात्पर्य्य नहीं है कि नोटों की राशि को नियत करने से जनता दुर्घटनाओं से बच सकती है। सभी बैंकों का फ्रांस के राष्ट्रीय बैंक के सदृश आदर्श प्रबंध नहीं हो सकता। अतः कोई दूसरा उपाय करना चाहिए जिससे नोटों की अधिकता से जनता बच सके।

(ख) न्यूनतम धरोहर विधि (The Minimum Reserve Method)—इस विधि के अनुसार नोटों की संख्या तो नियत नहीं की जाती, परंतु उसके स्थान पर नोटों के बदले धरोहर में कितना धन जमा कर दिया जाय, यह नियत कर दिया जाता है। परिणाम यह होता है कि बैंक यथेच्छ नोट निकाल सकते हैं और बहुधा उनका प्रबंध भी शिथिल हो जाता है। इस विधि का उद्देश्य यही है कि जनता की दुर्घटनाओं से रक्षा हो; परंतु यही बात इससे सिद्ध नहीं होती। दुर्घटना के समय में प्रायः कोष का धन खतम हो जाता है और अधिक नोटों के बदले धन देने में बैंक असमर्थ हो जाता है। अनुभव यही है कि प्रायः बैंक निश्चित राशि से अधिक धन कोष में रखते हैं। परंतु जब यह विश्वास फैल जाता है कि बैंक के पास तो राज-नियम द्वारा नियत धन कोष में है ही, तो दुर्घटना के समय में सभी लोग अपने नोटों के बदले धन ग्रहण करने का यत्न करते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि इस विधि से भी जनता की रक्षा नहीं हो सकती। दुर्घटनाओं से जनता को बचाने में यह विधि भी असमर्थ है।

(ग) आनुपातिक धरोहर विधि (Proportional Reserve Method)—इस विधि के अनुसार जितने नोट निकाले जायँ उसी के अनुपात में धरोहर में धन रख दिया जाय। प्रायः एक तिहाई धन का ही नियम है। बेल्जियम तथा जर्मनी में इसी विधि के अनुसार काम किया जाता है। यह विधि भी संतोष-प्रद नहीं कही जा सकती। क्योंकि अनुपात का स्थिर रखना सुगम बात नहीं है। दृष्टांत स्वरूप कल्पना करो कि राज्य द्वारा नियत अनुपात ४ तथा १ का है। इस अनुपात के अनुसार किसी बैंक ने ४००००००० रुपए के नोट निकाले और इसके बदले धरोहर में १०००००००० रुपए जमा कर दिए। यदि कोई व्यक्ति दस रुपए का भी नोट तुड़ावे तो उल्लिखित अनुपात का भंग हो जाना स्वाभाविक है। प्रतिदिन लाखों रुपयों का लेनदेन करनेवाले बैंकों के लिये अनुपात को स्थिर रख सकना कठिन है।

(घ) विषम धरोहर विधि (Partial Deposit Method)-इस विधि के अनुसार नोटों का कुछ भाग धातु के आधार पर और कुछ भाग सरकारी कागजों तथा हिस्सों के आधार पर निकाला जाता है। संयुक्त प्रांत अमेरिका, भारत तथा इंग्लैंड में यही विधि प्रचलित है। बैंक आफ् इंग्लैंड लड़ाई से पहले लगभग १८००००००० पौंड के नोट निकालता था जिनके बदले वह सरकारी कागजों तथा कंपनियों के हिस्से को धरोहर में जमा कर देता था। इससे अधिक नोट निकालने के लिये उसको

धरोहर में सोना जमा करना पड़ता था। इसमें दोष यह है कि जरूरत के अनुसार जनता को नोट नहीं मिलते। इंग्लैंड में चेकों के प्रयोग का बढ़ना बहुत कुछ नोटों की माँग के अनुसार उपलब्धि न हो सकने से ही संबद्ध है।

(ङ) सरल धरोहर विधि (Simple Deposit Method)– इस विधि के अनुसार नोट निकालने से पूर्व धरोहर में बहु-मूल्य धातु या उसकी मुद्रा का रखना आवश्यक है। अमेरिका का ग्रीन बैक नामक नोट इसी विधि के अनुसार निकाला गया है। इसमें दोष यही है कि धरोहर में अपरिमित धन निरर्थक पड़ा रहता है। यदि उसको प्रयोग में लाया जाय और देश की औद्योगिक उन्नति में उसको साधन बनाया जाय तो आर्थिक दुर्घटनाओं का उत्पन्न हो जाना बहुत संभव है। इतिहास इसी बात का साक्षी है कि राज्य के लोभ से इतने अपरिमित धन को सुरक्षित रखना सुगम काम नहीं है। दृष्टांत स्वरूप १७९० में इंग्लैंड ने, १७९५ में हालैंड ने और १८७० में फ्रांस ने अपने अपने राष्ट्रीय बैंकों से उधार धन लिया। बैंक भी राज्य की कृपा चाहते हुए जनता के हित को प्रायः तिलांजलि दे देते हैं।

उल्लिखित विधियों से स्पष्ट है कि कोई ऐसी विधि नहीं है जो निर्दोष हो। इस दशा में क्या किया जाय? महाशय किंले का मत है कि बहुत सी विधियों के द्वारा काम लेने से जनता की रक्षा की जा सकती है। जहाँ तक हो, सोना

चाँदी धरोहर में भी निरर्थक न पड़ा रहे और उसका प्रयोग इस सीमा तक भी न किया जाय कि धरोहर बिलकुल खाली हो जाय तथा जनता में नोट निराधार चलते रहें। कोशिश यह होनी चाहिए कि व्यापारी-व्यवसायियों को जरूरत के अनुसार मुद्रा मिल जाय और जरूरत न होने पर उनको पुनः खींचा जा सके।

ग्यारहवाँ परिच्छेद

भारत में मुद्रा की स्थिति

१—रुपए की अर्वाचीन स्थिति

सन् १८९३ तक भारत में चाँदी का रुपया प्रामाणिक सिक्का था। उसकी टकसालें जनता के लिये खुली थीं। सोने के अनुसार चाँदी की कीमतें बदलती रहती थीं। रुपए का मूल्य चाँदी की कीमत पर निर्भर था। चिरकाल से चाँदी की कीमतें क्रमशः कम हो रही थीं, इससे व्यापार-व्यवसाय को बहुत नुकसान पहुँचता था। आयात तथा निर्यात के व्यापारियों का जीवन खतरे से खाली न था।

द्विधातवीय मुद्रा-विधि के लिये जब यूरोप के बड़े बड़े राष्ट्र तैयार न हुए, तब भारत में भी १८९३ में रुपए को कल्पित मुद्रा बना दिया गया और उसकी टकसालें जनता के लिये बंद

कर दी गई। १८९९ में रुपए का स्वर्ण मूल्य १ शि० ४ पेंस नियत किया गया जो कि अब तक प्रचलित है, यद्यपि सरकार ने गलती से दो साल पहले इस अनुपात को कानून की किताबों में बदल दिया है।

रुपए को कल्पित मुद्रा बनाते समय देश में पर्य्याप्त अधिक आंदोलन हुआ था। लोगों का यह ख्याल था कि इससे भारत के निर्यात को नुकसान पहुँचेगा और स्वर्ण-विनिमय विधि चिर-काल तक स्थिर न रह सकेगी। भारत में ज्यों ज्यों मँहगी होती गई त्यों त्यों यह बात दिन पर दिन स्पष्ट होती गई कि अल्प मूल्यवाली धातु की मुद्रा से देश की बहुसंख्या को किस प्रकार हानि पहुँच सकती है। १९१० की २५ फरवरी को महाशय जे. बी. ब्रुनयेट् ने व्यवस्थापक सभा में स्पष्ट शब्दों में कहा था कि इससे भारत के निर्यात व्यापार को बहुत ही अधिक नुकसान पहुँचा है। बंबई के कपड़े बनानेवाले कारखानों के मालिकों ने भी यही बात प्रकट की थी।

मौद्रिक प्रणाली में परिवर्तन करते समय सरकार को १८९३ में जिस आंदोलन का सामना करना पड़ा था, १८९९ तक वह शनैः शनैः कम हो गया। महाशय ए. एम. लिंडसे ने १८९८ में ही यह उद्घोषित किया था कि भारत की नवीन मौद्रिक प्रणाली रिकार्डो के इस सिद्धांत के अनुकूल है कि राष्ट्र का अंतरीय कार्य्य अल्पमूल्य धातु की मुद्रा तथा कागजों के द्वारा होना चाहिए; केवल विदेशी व्यापार में स्वर्ण या स्वर्णमुद्रा का प्रयोग

होना चाहिए। १८९३ में भारत में चार प्रकार की मुद्राएँ चलती थीं जो कि इस प्रकार हैं—

(१) कागजी नोट

(२) कल्पित मूल्य का चाँदी का रुपया

(३) तांबे चाँदी के छोटे छोटे कल्पित मूल्य के सिक्के

(४) विदेशी व्यापार में स्वर्ण तथा स्वर्णमुद्राएँ

जनता, व्यापारी, व्यवसायी तथा साहूकारों का मत था कि क्रमशः भारत में स्वर्णमुद्रा को अंतरीय विनिमय में भी प्रचलित करना चाहिए। परंतु अब तक भारत में स्वर्णमुद्राएँ प्रामाणिक मुद्राएँ नहीं बनीं। रुपया ही बड़े से बड़े लेनदेन में प्रामाणिक मुद्रा है। रुपए में जो विशेषताएँ हैं, वे इस प्रकार दिखाई जा सकती हैं—

(१) रुपया कोषप्रवेश्य तथा प्रामाणिक मुद्रा है।

(२) स्वर्ण मुद्रा कोषप्रवेश्य तथा प्रामाणिक मुद्रा है। सरकार राजनियमों के द्वारा बाध्य है कि एक पाउंड के बदले पंद्रह रुपए दे। पिछले वर्ष के राजनियम से विनिमय दर दस रुपया हो गई है।

(३) प्रायः सरकार पंद्रह रुपयों के बदले में स्वर्ण मुद्रा नहीं भी देती। रुपयों के बदले में स्वर्ण मुद्राओं का प्राप्त करना भारत में सुगम काम नहीं है।

(४) विदेशी व्यापार तथा पूँजी भ्रमण को सुगम करने के लिये सरकार ने विनिमय की दर १ शिलिंग ४ पेंस रखी

है। लड़ाई से पहले तक यह दर प्रायः १ शि० $४\frac{१}{८}$ पेंस से १ शि० $३\frac{३१}{३२}$ पेंस के बीच में ही रहती थी। लड़ाई के अंतिम दिनों में इसमें भेद पड़ गया और बहुत से झमेले खड़े हो गए जिनका उल्लेख आगे चलकर किया जायगा।

लड़ाई से पहले भिन्न भिन्न समितियों ने जो सलाहें दीं, उन्हींके अनुसार भारत की मौद्रिक-प्रणाली में संशोधन किए गए। भिन्न भिन्न समितियाँ किस किस समय में बैठीं, इसका ब्यौरा इस प्रकार है—

सन्	समितियों के नाम
१८९२	इंडियन मौद्रिक-प्रणाली पर हर्शल समिति
१८९३	टकसालों का बंद करना। विदेशी विनिमय दर का नियत करना।
१८९८	फाउलर समिति। विदेशी विनिमय की दर १ शि० ४ पेंस पर पहुँच गई।
१८९९	१ शि० ४ पेंस के अनुपात पर इंग्लैंड का सावरेन भारत में प्रामाणिक मुद्रा नियत किया गया।
१८९९–१९०३	भारत में सावरेन (स्वर्ण मुद्रा) चलाने के संबंध में पत्र-व्यवहार (१९०३ की ६ फरवरी तक)।
१९००	मुद्रा-निर्माण के लाभ से स्वर्णकोष का स्थापित करना।

१६०४ भारत सचिव का १ शि० $४\frac{१}{८}$ पेंस पर काउंसिल बिल के विक्रय करने का दृढ़ निश्चय करना।

१६०५ बैंक आफ् इंग्लैंड में मुद्राकोष (Currency Chest) का स्थापित करना।

१६०६ स्वर्णकोषनिधि की रुपए संबंधी शाखा का स्थापित करना।

१६०८ कलकत्ते में लंडन के लिये स्टर्लिंग ड्राफ्ट का १ शि० $३\frac{२९}{३२}$ पेंस पर बेचा जाना। इसका धन लंडन में स्वर्णकोषनिधि में से दिया जाता है।

१६१० १० रुपए तथा ५० रुपए के नोटों को संपूर्ण भारतीय साम्राज्य में प्रामाणिक मुद्रा का रूप देना।

१६१३ भारतीय आय व्यय तथा मुद्रा के संबंध में रायल कमीशन का बैठाना।

उल्लिखित राजनियम तथा समितियाँ भिन्न भिन्न परिस्थितियों तथा समस्याओं को सुलझाने के लिये ही बनाई गई थीं। १८९३ से पहले १८७० का राज-नियम ही प्रचलित था। १८७० के राज-नियम के अनुसार सरकार रुपयों के बदले चाँदी तथा चाँदी के बदले रुपए देने के लिये बाध्य थी।

इसके साथ ही साथ १८६८ की सरकारी सूचना या विज्ञप्ति के द्वारा सरकार १० रुपए ४ आने पर एक सावरेन् ग्रहण करने पर बाध्य थी। परंतु इसके अनुसार चिरकाल तक काम नहीं किया गया। १८७० के राज-नियम को १८९३ के राज-नियम के द्वारा और १८६८ की सरकारी विज्ञप्ति को एक नई विज्ञप्ति के द्वारा बदला गया। १८९३ के राज-नियम से चाँदी की टकसालें जनता के लिये बंद हो गईं और विज्ञप्ति के द्वारा सावरेन् का मूल्य पंद्रह रुपया नियत किया गया। १८९३ से १९०६ तक स्वर्णमुद्रा तथा रुपए के संबंध में भिन्न भिन्न विज्ञप्तियाँ प्रकाशित होती रहीं और अंत में १८९९ में एक राज-नियम के द्वारा सावरेन को पंद्रह रुपयों के बराबर नियत कर दिया गया। १९१० के पेपर करेंसी एक्ट से इंग्लैंड की स्वर्णमुद्रा के स्थान पर पत्रमुद्रा निकालना निश्चित हुआ।

विनिमय की दर तथा स्वर्णनिधि का प्रबंध प्रायः शासक-सभा के हाथ में है। वही भिन्न भिन्न विज्ञप्तियों के द्वारा उसका प्रबंध करती है और जनता को यथार्थ स्थिति की सूचना देती रहती है। सारांश यह है कि भारतीय मुद्रा का विकास स्वाभाविक है। शासकों की किसी स्थिर कूटनीति को यह सूचित नहीं करता।

उल्लिखित नियमों का फल यह है कि रुपया एक कल्पित मुद्रा बन गया है। विदेशी व्यापार की सुगमता के लिये सरकार रुपए को नियत विनिमय की दर पर विदेशी मुद्रा में

परिवर्तित कर देती है। संक्षेप से भारतीय मौद्रिक-प्रणाली की विशेषता निम्नलिखित है।

(१) भारत की राष्ट्रीय मुद्रा अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा से सर्वथा भिन्न है।

(२) सरकार भारत की मुद्रा के बदले विदेशी स्वर्ण-मुद्रा विदेश में सुगमता से दे देती है। भारत में उस स्वर्णमुद्रा को प्राप्त करना उतना सुगम नहीं है। सरकार का इस बात की ओर ध्यान भी नहीं है।

(३) सरकार ने भारतीय मुद्रा के बदले विदेश में मुद्रा और विदेशीय मुद्रा के बदले भारत में मुद्रा देने का प्रबंध करके दोनों ही स्थानों पर अपना कोष रक्खा है।

गंभीर रूप से विचार करने पर मालूम पड़ेगा कि रुपया एक प्रकार का नोट है। जिस प्रकार दस रुपए के नोट में कागज का कुछ भी मूल्य नहीं है, उसी प्रकार रुपए में उतनी चाँदी नहीं है जितनी कि उसके बदले में बाजार से मिल सकती है। इससे एक हानि भी है। सरकार आमदनी के उद्देश्य से रुपयों को बहुत राशि में निकालेगी और इस प्रकार देश में मँहगी पैदा कर देगी। पिछले सालों का इतिहास इसी बात को पुष्ट करता है। बहुत से अर्थ-शास्त्रज्ञ कहते हैं कि सरकार जरूरत से ज्यादा रुपयों का प्रचार कर ही कैसे

सकती है ? यदि वह लोभ में आकर अधिक रुपए निकाले तो वह उसके कोष में ही पड़े रहेंगे। इसका उत्तर यह है कि सरकार दिन पर दिन अपने खर्च बढ़ा रही है और उन खर्चों को पूरा करने का रुपयों को साधन बनाकर रुपयों को अधिक मात्रा में देश में फैला सकती है।

भारत में स्वर्ण की राशि

सन् १८९८ की फाउलर समिति (Fowler Committee) भारत में स्वर्ण-मुद्रा-प्रचार के पक्ष में थी। उसने ५४वें प्रकरण में लिखा है कि "हम इंग्लैण्ड के सावरेन को भारत में प्रचलित करने के पक्ष में हैं। साम्राज्य की तीनों आस्ट्रेलियन शाखाओं के सदृश ही भारत में भी टकसालें स्वर्णमुद्रा वनवाने के लिये जनता के लिये खुल जानी चाहिएँ। जो चाहे सोना देकर उनके द्वारा सावरेन बनवा ले। इससे भारत तथा इंग्लैंड की मुद्रा एक सदृश हो जायगी।......हम चाहते हैं कि इसी नीति का भारत में अनुकरण किया जाय"। १८९९ में उल्लिखित कथन के अनुसार भारत में इंग्लैंड की स्वर्ण-मुद्रा को प्रामाणिक बना दिया गया और सरकार ने रुपए तथा स्वर्ण-मुद्रा में १५:१ का अनुपात नियत किया। भारत-सचिव तथा वाइसराय ने स्वर्णमुद्रा बनाने के लिये वंबई में टकसाल खोलने का निश्चय भी किया। परंतु इस निश्चय दृढ़तापूर्वक काम में नहीं लाया गया। १९११ में सर् गाई फ्लीट्वुड् विल्सन ने व्यवस्थापक सभा में कहा कि "इंग्लैंड की टकसालों

ने भारत में टकसाल खोलने का विरोध किया। इससे कई वर्षों तक बंबई में टकसाल न खोली गई। लाचार होकर कोलार स्वर्णक्षेत्र की कंपनियों ने इंग्लैंड में अपना अपरिमार्जित सोना वेचने का प्रवंध कर लिया। इससे भारत में स्वर्णमुद्र बनाने का काम कुछ समय के लिये और रुक गया"। महाशय कीन्ज का मत है कि इंग्लैंड की टकसालों का उल्लिखित विरोध किसी प्रकार न्याययुक्त नहीं कहा जा सकता।

भारत में स्वर्णमुद्रा के लिये टकसालें खोलने का प्रश्न जब जब उठाया गया, तब तब कोई न कोई विरोधी सदा ही उठ खड़ा हुआ। १६०१ की मई में टकसाल का मामला जब कोषाध्यक्ष के पास भेजा गया, तब उत्तर मिला कि भारत में स्वर्णमुद्रा की इतनी अधिक ज़रूरत नहीं है कि टकसाल खोली जाय। काम न होने से टकसाल वंद पड़ी रहेगी और कर्मचारियों को वृथा ही ज्यादा तनखाह देनी पड़ेगी। १६०३ की ६ फर्वरी को भारतसचिव ने स्वर्णमुद्रा के मामले को अनियत समय के लिये टाल दिया।

१६११ के मार्च में सर् विट्ठलदास ठाकरसी ने १० रुपए की स्वर्णमुद्रा निकालने का प्रस्ताव व्यवस्थापक सभा में पेश किया। इस पर सर् गाई फ्लीट्वुड् विल्सन ने अपनी अनुमति दी और कहा कि "१६०२ के वाद से अब तक जो घटनाएँ हुई हैं, वह भारत में स्वर्णमुद्रा की टकसाल खोलने के मामले को पुष्ट करती हैं"। १६१२ के १६ मार्च को भारत सरकार ने

भारत सचिव से टकसाल खोलने की अनुमति माँगी। परंतु मामला पुनः गोलमाल कर दिया गया और अब तक यही हालत मौजूद है।

महाशय कीन्ज का मत है कि सन् १९०० के बाद से अब तक स्वर्णमुद्रा के संबंध में भारत सरकार की नीति विवेकपूर्ण तथा न्याय-युक्त रही है। सरकारी कागजों के देखने से मालूम पड़ता है कि शासकगण इस बात में संदिग्ध हैं कि स्वर्णमुद्राओं की टकसालों के खुल जाने से भारत को कुछ लाभ भी है वा नहीं। इस विषय पर गंभीर विचार करने से पूर्व यह जानना नितांत आवश्यक है कि स्वर्णराशि का एक स्थान पर एकत्र होना लाभप्रद है या उसका जनता में फैला देना।

सन् १८७० तक इंग्लैंड की मुद्रा-प्रणाली आदर्श मुद्राप्रणाली समझी जाती थी। इसका मुख्य कारण यह था कि इंग्लैंड में सोने के सिक्के चलते थे। जर्मनी ने इंग्लैंड का अनुकरण किया और अपने देश में सोने का सिक्का प्रचलित किया। १८७० तक यही विश्वास था कि सोने के सिक्कों का प्रचार ही समृद्धि के लिये मुख्य वस्तु है। परंतु आजकल यह बात नहीं रही। इंग्लैंड में चेक के प्रयोग के बढ़ने से सोने के सिक्के का प्रचार बहुत ही कम हो गया। १८७६ के बाद जर्मनी ने भी सोने का बैंकों के पास एकत्र रहना ही उचित समझा और यही कारण है कि उसने २० मार्क के नोटों का प्रचार भी राज-

नियम के अनुकूल ठहरा दिया। १९१२ की जनवरी में रीशटैग की बजट समिति के प्रधान ने भी नोटों के प्रचार के लिये प्रार्थना की थी। आजकल तो हरजाने के भार से दबकर जर्मनी ने नोटों का प्रचार बहुत ही अधिक बढ़ा दिया है। मार्क्स के अधःपतन का मुख्य कारण भी यही है।

जर्मनी तथा इंग्लैंड के सदृश ही अन्य देशों में भी स्वर्ण-मुद्राओं को विनिमय में चलने से रोका गया है। सभी देशों के राष्ट्र बैंकों में स्वर्णमुद्राएँ तथा स्वर्ण जमा है। नोटों से ही लेन-देन का काम किया जाता है। दृष्टांत स्वरूप १८९२ में आस्ट्रिया-हंग्री ने स्वर्ण की मुद्राएँ देश में प्रचलित करनी चाहीं, परंतु अंत में उसने भी अन्य देशों का ही अनुकरण किया। लड़ाई से पहले आस्ट्रो हंगेरियन बंक के पास ही राष्ट्र का सारा सोना जमा था। यही घटना रूस में हो चुकी है। इस समय संसार में एक मिस्र ही ऐसा देश है जहाँ स्वर्ण-मुद्राएँ विनिमय की माध्यम हैं और विशेष रूप से चल रही हैं। परंतु उसको भी अन्य यूरोपीय देशों के मार्ग पर चलना ही पड़ेगा।

स्वर्ण तथा स्वर्णमुद्रा का बैंकों के कोष में जमा होने का मुख्य कारण यह है कि सोने का व्यवहार में प्रयुक्त करना एक प्रकार की फजूलखर्ची है। जब देश पर आर्थिक संकट पड़ता है तब राष्ट्र का स्वर्ण उपलब्ध नहीं होता। प्रत्येक व्यक्ति स्वर्णमुद्रा को अपने अपने संदूकों में बंद कर देता है। यही

कारण है कि अर्थ-शास्त्रज्ञों का मत है कि देश का लेनदेन साधारण मुद्राओं से चलाना चाहिए और जहाँ तक हो सके, सोने को एक स्थान पर एकत्र रखना चाहिए।

१९०० में भारत में सावरेन चलाने के लिये यत्न किया गया; क्योंकि १८९८ की मुद्रा-समिति ने राज्य को यही सलाह दी थी और भारतीयों की भी यही प्रबल इच्छा थी। १९०० की १२ जनवरी को कलकत्ता, मद्रास तथा बंबई में करेंसी आफिस से लोगों को नोटों के बदले सोने के सावरेन दिए गए। १९०१ तक यही प्रबंध रहा। ६७५०००० पाउंड जनता में प्रचलित किए गए। परंतु हुआ क्या? लोगों ने इनको प्रायः विदेश में भेज दिया और बहुतों ने इनको गलाकर गहने बनवाए।

इसका परिणाम यह हुआ की सरकार के खजाने में स्वर्ण-मुद्राएँ लौटकर न पहुँचीं। इससे सरकार को स्वर्णमुद्राओं का प्रचार रोकना पड़ा और निम्नलिखित राजनियम बनाना पड़ा—

(१) भारत में स्वर्णमुद्रा (सावरेन) प्रामाणिक मुद्रा समझी जाय और उसका दाम पंद्रह रुपया हो।

(२) सरकार इसी अनुपात के अनुसार जनता को सावरेन के बदले रुपए दे।

(३) सरकार रुपयों के बदले सावरेन दे सकती है; परंतु किसी नियम से वह इस काम के लिये बाध्य नहीं है।

बहुत से अर्थ-शास्त्रज्ञों का मत है कि यदि भारत में १० रुपए की गिनती चलाई जाय तो बहुत कुछ सफलता प्राप्त हो सकती है। भारत में सोने की कमी नहीं है। पिछले दस बीस सालों में दिन पर दिन भारत में सोने की राशि बढ़ती ही गई है, जैसा कि इस सूची से स्पष्ट है—

भारत में सोने की राशि का बढ़ना

सन्	(१) = (२) + (३) स्वर्णकी कुल राशि आयात-निर्यात + उत्पति	(१) पत्रमुद्रा विधि तथा खजाने में विद्यमान स्वर्ण	(३)=(४)+(५) जनता के पास विद्यमान स्वर्ण	(४) जनता के पास नए स्वर्ण का आगमन	(५) जनता के पास सावरेन की संख्या
	पाउंड	पाउंड	पाउंड	पाउंड	पाउंड
१९०१–०२	३२२३०००	५०००	३२२८०००	२२६१०००	९६७०००
१९०२–०३	७८८२०००	२८७००००	५०१२०००	२८१४८००	२१९८०००
१९०३–०४	८९६३०००	९४४०००	८०१९०००	४७४१०००	३२७८०००
१९०४–०५	८८४१०००	३८०००	८८०३०००	५८६६०००	२९३७०००
१९०५–०६	२६६९८०००	६८४००००	९५३८०००	५८०६०००	३७३२०००
१९०६–०७	१२०६१०००	१९३०००	१२२५४०००	७०९८०००	५१५६०००
१९०७–०८	१३६७७०००	९९३०००	१४६७००००	७२४३०००	७४२७०००
१९०८–०९	५०२२०००	२८४३०००	७८६५०००	४४२२०००	३४४३०००
१९०९–१०	१६६२००००	६३४७०००	१०२७३०००	७४०७०००	२८६६०००
१९१०–११	१८१५३०००	७१०००	१८०८२०००	९९९१०००	८०९१०००
१९११–१२	२७३४५०००	९३४७०००	१७९९८०००	९११७०००	८८८१०००
१९१२–१३	२४५५१०००	४२३१०००	२०३२००००	९३२००००	११००००००

उल्लिखित सूची की पाँचवीं पंक्ति से स्पष्ट है कि किस प्रकार भारत में प्रति वर्ष स्वर्णमुद्राओं की वृद्धि हुई है। १६०१-०२ में कुल ६६७००० पाउंड की स्वर्णमुद्राएँ भारत में प्रचलित थीं; परंतु १६१२-१३ में यह संख्या ११०००००० पाउंड तक जा पहुँची।

भारतवर्ष में विदेश से प्रति वर्ष १०००००० पाउंड की स्वर्णमुद्राएँ आती हैं; परंतु यह मुद्रा के रूप में नहीं चलतीं। प्रायः इनको गलाकर गहने गढ़वाए जाते हैं। भारत के कुछ प्रदेशों में जमींदार फसल बेचने के बदले में स्वर्णमुद्रा ग्रहण करना ही अधिकतर पसंद करते हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि अब वह रुपयों को जमीन में नहीं गाड़ना चाहते और न रुपयों के गहने ही बनवाना चाहते हैं। सावरेन इन दोनों कामों के लिये अधिक उपयोगी है। अतः उसी को वह प्राप्त करना चाहते हैं।

सावरेन के प्रचार को जानने के लिये रेल्वेज़ तथा पोष्ट आफिस की सूची दी जाती है, जिससे विषय पूर्ण रूप से स्पष्ट हो जाय।

सावरेन का प्रचार

सन्	पोस्ट आफिस	रेल्वेज
१९०६—०७	५५३०००	४६८०००
१९०७—०८	१३५८०००	१०४५०००
१९०८—०९	१००१०००	७१००००
१९०९—१०	२६५०००	१३४०००
१९१०—११	६३८०००	५९७०००
१९११—१२	१३६३०००	१२२२०००

उल्लिखित सूची से स्पष्ट है कि किस प्रकार १९०६ से १९१० तक सावरेन का विनिमय के माध्यम के रूप में प्रचार कम होता रहा। ईष्टर्न बंगाल, बंगाल, आसाम, मध्यप्रांत तथा बर्मा में तो सावरेन का प्रचार बहुत ही कम है। संयुक्तप्रांत, मद्रास तथा पंजाब में लोग गेहूँ बेचते समय सावरेन प्राप्त करना चाहते हैं। बम्बई भी आजकल इसी ओर पग धर रहा है। पंजाब की व्यापारीय समिति (Punjab Chamber of Commerce) ने जून १९१२ में जो प्रस्ताव पास किया था वह बहुत अधिक ध्यान देने के योग्य है। प्रस्ताव के शब्द हैं कि "पंजाब में सावरेन का प्रचार दिन पर दिन बढ़ रहा है। बाजार में सावरेन को प्रामाणिक मुद्रा (Legal tender)

के रूप में ग्रहण किया जाता है। पंजाब के सिपाही जिन जिन स्थानों में गए हैं, वहाँ प्रायः सावरेन बाजार में ग्रहण की जाती है और एक सर्वप्रिय मुद्रा समझी जाती है। पंजाब के गाँवों में जमींदार सावरेन जमा करते हैं और जमीन में गाड़ कर रखते हैं।" १९११-१२ में मुद्राध्यक्ष (Comptroller of Currency) ने इधर उधर के जिलों से जाँच की। उसको भी यही सूचना मिली की पंजाब के गाँवों में बहुत बड़ी संख्या में सावरेन जमीनों में गड़ी हैं।

विदेश से भारत में जो सोना आता है, वह भी भूलने के योग्य नहीं है। १९१२ में भारत में २९५०००० पाउंड का सोना विदेश से आया जिसमें २१५०००० पाउंड के सावरेन थे। इस अधिक मात्रा में सोने के आने का मुख्य कारण आस्ट्रेलिया तथा ईजिप्ट से संबद्ध है। वहाँ से बहुत सा सोना भारत में आया; क्योंकि वहाँ उसकी माँग न थी। काउंसिल बिल के स्थान में भारत में सोना भेजना ही सस्ता पड़ता था, इससे भी भारत में सोना बहुत अधिक आया। सारांश यह है कि सोने की इस अधिक मात्रा से यह अनुमान नहीं किया जा सकता कि भारत में सावरेन के प्रचार की जरूरत है और लेनदेन का काम सुगमता से नहीं चल सकता। क्योंकि बहुधा यह देखा गया है कि लंडन से सोना मँगाने की अपेक्षया अलक्जंड्रिया से सावरेन मँगाना सस्ता पड़ता है। १९१२ में भारत में कुल मिलाकर २१५००००० सावरेन आए थे

जिनमें से केवल ५०००००० सावरेन ही लंडन से आए थे। शेष सावरेन आस्ट्रेलिया तथा ईजिप्ट से ही भारत में पहुँचे थे।

इस प्रकार स्पष्ट है कि भारत में सावरेन की माँग अधिक है वा कम है और उसका लेनदेन के साथ किसी ढंग का संबंध है। इस पर बिना विचार किए भारत में स्वर्णमुद्रा के प्रचार का प्रश्न सरल नहीं किया जा सकता। स्वर्णमुद्रा प्रचार संबंधी समस्या कितनी विकट है और उसको किस प्रकार सरल किया जाय, अब इसी पर प्रकाश डाला जायगा।

३—स्वर्णमुद्रा का प्रचार

भारत में स्वर्ण की माँग है, इसमें कुछ भी संदेह नहीं है। परन्तु यह माँग एकमात्र मौद्रिक-व्यवहार के लिये नहीं है, अपितु इसमें गहने तथा गाड़ने के लिये भी स्वर्ण की माँग सम्मिलित है। भारत के संयुक्तप्रान्त, पंजाब, मद्रास, बम्बई तथा बंगाल यह पाँच ही प्रांत हैं जिनमें मुद्रा के लिये स्वर्ण की माँग है।

स्वर्णमुद्रा के पक्षपाती निम्नलिखित तीन तरीकों से भारत में स्वर्णमुद्रा का व्यवहार बढ़ाना चाहते हैं—

(१) बम्बई में स्वर्णमुद्रा बनाने के लिये टकसाल खोली जाय।

(२) दस रुपए के बराबर ही स्वर्णमुद्रा वहाँ बनाई जाय और उसका रूप भारतीय हो।

(३) राज्य की ओर से यत्न किया जाय कि व्यवहार में यथासंभव स्वर्णमुद्रा चले।

(१) बम्बई में टकसाल खोलने से स्वर्णमुद्रा का निर्माण कैसे शुरू हो सकता है, इसके चार तरीके हैं जो इस प्रकार हैं—

(क) स्वर्णमुद्रा बनाने के लिये इंग्लैंड से स्वर्ण मँगाया जाय या इंग्लैंड के स्वर्ण-व्यापारी भारतीय-राज्य के हाथ स्वर्ण बेचें।

(ख) भारत की सोने की खानों के मालिक इंग्लैंड के स्वर्ण-संशोधकों के पास स्वर्ण न भेजकर बंबई की टकसाल में भेजें। भारत में प्रतिवर्ष २०००००० पाउंड का स्वर्ण पैदा होता है। बंबई की टकसालवाले यदि उनका सोना अच्छी शर्तों पर लें, तभी यह संभव है। अन्यथा नुकसान सहकर खानवाले उनको कब सोना देने लगे?

(ग) भारतीयों का स्वभाव बदल जाय और वह लोग गहनों को गलाकर बाजार में स्वर्ण की मात्रा बढ़ाएँ जिससे टकसाल को पर्याप्त अधिक स्वर्णमुद्रा में परिवर्त्तित होने का अवसर दें।

(घ) दुर्भिक्ष के दिनों में लोग अपने गहनों तथा गड़े हुए सोने को बाहर निकालें और उसको स्वर्णमुद्रा में परिवर्तित होने का अवसर दें।

विचार की सुगमता के लिये पहले तरीके को ही लीजिए। इंग्लैंड के व्यापारी भारत में स्वर्ण भेजकर स्वर्ण की मुद्राएँ बनवावें, यह संभव नहीं है। भारत में स्वर्ण विदेश से तभी

आवेगा जब कि स्वर्ण-व्यापारी भारत में बेचने के इच्छुक हों; अर्थात् उनको अन्य स्थानों की अपेक्षया यहाँ अधिक लाभ प्राप्त होता हो। स्वाभाविक है कि भारत में स्वर्ण की माँग बढ़ने से भारत में स्वर्ण आवे और शुरू शुरू में सरकार को नुक्सान उठाना पड़े। यही बात दूसरी दशा में है। भारतीय स्वर्ण-क्षेत्र के मालिक भारत को स्वर्ण तभी देंगे जब उनको इंग्लैंड की अपेक्षया ज्यादा दाम मिले। इसी को दूसरे शब्दों में इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि भारत के करदाताओं की तकलीफ से स्वर्णक्षेत्र के मालिक अँग्रेज अनुचित ढंग पर लाभ उठावेंगे और अपने हिस्सेदारों को अधिक अधिक लाभ बाँटेंगे।

(२) यदि भारत दस रुपए की भारतीय स्वर्णमुद्रा प्रचलित हो तो स्वर्ण-प्राप्ति-संबंधी कठिनाई ज्यों की त्यों बनी रहती है। इसमें संदेह भी नहीं है कि भारत में दस रुपए की स्वर्ण-मुद्रा कुछ ही समय में सर्वप्रिय हो सकती है। गाँवों में इसका व्यवहार कहाँ तक संभव है, इस पर पर्य्याप्त अधिक मतभेद है। क्योंकि गाँववाले उन्हीं मुद्राओं को ग्रहण करते हैं जिनका मूल्य उनको मालूम हो। शुरू शुरू में यह कठिनाई उपस्थित होगी, परन्तु कुछ ही दिनों के बाद स्वर्णमुद्रा चाँदी तथा नोटों की अपेक्षया भी अधिक प्रिय हो जायगी। दस रुपए की स्वर्णमुद्रा में सबसे बड़ी कठिनाई विदेशी व्यापारियों को होगी। यदि भारतवर्ष एक स्वतंत्र देश होता और

इंग्लैंड से उसका कुछ भी संबंध न होता तो और बात थी। परंतु जब यह बात नहीं है, अपितु इंग्लैंड के साथ भारत का अत्यंत घनिष्ठ संबंध है, तो इस दशा में इंग्लैंड के सावरेन से एक भिन्न स्वर्णमुद्रा प्रचलित करना विचारणीय है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि आजकल इंग्लैंड का सावरेन अंतर्जातीय मुद्रा हो रहा है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि १६११ में इंग्लैंड में ४३३०५७२२ सावरेन टकसाल से बनाए गए जब कि सारे संसार में ३३३७५४५५ पाउंड की ही स्वर्णमुद्रा बनाई गई। इस दशा में इंग्लैंड की स्वर्णमुद्रा से एक भिन्न भारतीय स्वर्णमुद्रा का स्थापित करना कहाँ तक हितकर होगा, यह विचारणीय है।

(३) "राज्य की ओर से इस बात का यत्न किया जाय कि भारत में स्वर्णमुद्रा का विशेष तौर पर प्रचार हो" इस विचार में बहुत से मुद्रा-तत्वज्ञ सहमत नहीं हैं। भारत जैसे देश में यह कहाँ तक हितकर होगा और रुपए के स्थान पर स्वर्णमुद्रा को सर्वप्रिय बनाने में कहाँ तक सरकार को या जनता को लाभ पहुँचेगा, इस विषय में अब तक एक मत नहीं है।

जो कुछ हो, स्वर्णमुद्रा का भारत में प्रचलित होना नितांत आवश्यक है। सभ्य राष्ट्रों का स्वर्णमुद्रा को प्रचलित करने से सभ्यता का स्वर्णमुद्रा के साथ घनिष्ठ संबंध हो गया है। इस दशा में भारत की असभ्यता की सूचक चाँदी की

मुद्रा का चिरकाल तक प्रयोग करना किसी तरीके से हितकर नहीं हो सकता। इसलिये किसी न किसी उपाय से भारत में स्वर्णमुद्रा का प्रचार करना ही चाहिए।

महाशय कीन्ज अभी तक स्वर्णमुद्रा के पक्ष में नहीं हैं। उनकी युक्तियाँ विवेकपूर्ण तथा विचारणीय हैं। उनका खयाल है कि स्वर्णमुद्रा प्रचलित करने से भारत को भयंकर हानि पहुँचेगी। १६१३ से पूर्व भारत-सरकार ने रुपए के कोष में २१०००००० पाउंड का धन एकत्र किया है और पत्रमुद्रा-कोष का ब्याज प्रतिवर्ष ३००००० पाउंड के लगभग प्राप्त होता है। इस प्रकार भारत-सरकार को १०००००० पाउंड के लगभग वार्षिक लाभ है। यदि भारत में स्वर्णमुद्रा चलाना ही सरकार अपना कर्त्तव्य समझ ले, तो स्वाभाविक ही है कि उल्लिखित कोष उसको नष्ट करना पड़े और १०००००० पाउंड की वार्षिक आय से हाथ धोना पड़े।

स्वर्ण की राशि को कोष में रखना या जनता में स्वर्णमुद्रा के रूप में फैला देना, इन दो बातों में कौन सी बात हितकर है, इस पर बहुत ही विवाद है। महाशय कीन्ज पहली बात के ही पक्ष में हैं। उनका खयाल है कि आर्थिक दुर्घटनाओं से बचने के लिये आवश्यक है कि साधारण मुद्रा से काम चलाया जाय और बहुमूल्य धातु को कोष में सुरक्षित रखा जाय। लार्ड ग्रोशन ने इसी विषय में एक बार कहा था कि "जातीय तथा मौद्रिक हित को सामने रखते हुए मैं आवश्यक समझता हूँ

कि बैंक आफ इंग्लैंड के कोष में २००००००० पाउंड स्वर्ण का होना इस बात की अपेक्षा किसी हद तक उत्तम है कि जनता के पास ३००००००० सावरेन के रूप में वह फैला दिया जाय। ......यदि एक पाउंड नोट का प्रचार किया जाय तो बैंक आफ इंग्लैंड के कोष में २०००००००० पाउंड स्वर्ण की मात्रा बढ़ जाय और बैंक की स्थिति पक्की चट्टान पर हो जाय।" इसमें तो संदेह है ही नहीं कि कई वर्षों तक भारत में रुपया ही प्रधान सिक्का रहेगा। स्वर्णकोष को जनता में स्वर्णमुद्रा के रूप में फैला देने से राज्य की शक्ति घट जायगी और दुर्घटनाओं का सामना करना कठिन हो जायगा। नोटों के प्रचार पर भी स्वर्णमुद्रा के कारण नुकसान पहुँचेगा। सरकार जितनी स्वर्णमुद्रा निकालेगी, वह तो जनता के पेट में चली जायगी और नोट सरकारी खजाने में पहुँचेंगे।

पंजाब में नोटों का कम प्रचार है। वहाँ स्वर्णमुद्रा को ही लोग नोटों के स्थान पर पसंद करते हैं और जहाँ तक होता है, नोट लेने से बचना चाहते हैं। नेशनल बैंक के मैनेजर ने लिखा था कि "पंजाब में सरकारी नोटों का बहुत प्रचार नहीं है। लोग नोटों के स्थान पर सावरेन को ही पसंद करते हैं"। बंगाल तथा ईस्टर्न बंगाल में सरकारी नोट बहुतायत से चलते हैं। यदि सरकार बंगाल में स्वर्णमुद्रा के प्रचार का कुछ भी यत्न करे तो लोगों में नोटों का प्रचार उठ जाय और उन पर कटौती पड़ने लगे। पंजाब के विषय में मुद्राध्यक्ष ने जो अन्वे-

षण किया है, उसको संक्षेप से इस प्रकार दिखाया जा सकता है:—

गुजराँवाला:—जमींदार लोग स्वर्णमुद्रा ही लेना पसंद करते हैं। क्योंकि उसके बदले उसको सुगमता से चीजें मिल जाती हैं और रुपया तथा मान प्राप्त करने में भी उनको किसी ढंग की कठिनाई नहीं होती। सरकारी नोटों को लेने से वह लोग घबराते हैं क्योंकि उनके बदले रुपया तथा मान सुगमता से नहीं प्राप्त होता और चीजें प्राप्त करने में भी असुविधाएँ होती हैं। पूछने पर मालूम पड़ा कि दूर से दूर तथा असभ्य से असभ्य स्थान में भी स्वर्णमुद्रा को लोग ले लेते हैं जब कि नोटों के बारे में यह बात नहीं है। रुपए लेने में सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि बड़ी बड़ी थैलियों को एक स्थान से दूसरे स्थान में ले जाना सुगम नहीं है और चोरी तथा डाके का भी खतरा रहता है।

झंग:—लोग चाँदी के रुपए की अपेक्षा सोने का सिक्का ही पसंद करते हैं।

गुरदासपुर:—एक स्थान से दूसरे स्थान में सावरेन तथा स्वर्ण-मुद्रा ले जाना सुगम है। यही कारण कि जमींदार रुपयों की अपेक्षा स्वर्णमुद्राओं को ही अधिकतर पसंद करते हैं।

अंबाला:—नगरों तथा गाँवों में सावरेन का ही अधिक प्रचार है। नोट तथा रुपए का प्रचार उठता जाता है।

बन्नूः—नोटों का स्थान दिन पर दिन स्वर्णमुद्रा ले रही है।

रोहतकः—सन् १९११-१२ में स्वर्णमुद्रा के बढ़ने से नोटों का प्रयोग उठ गया।

लुधियानाः—स्वर्णमुद्रा के कारण नोटों का प्रयोग कम हो गया।

उल्लिखित अन्वेषणों तथा प्रमाणों की सचाई इसी से जानी जा सकती है कि पंजाब तथा बम्बई में १० रुपए के नोट कभी सर्वप्रिय नहीं हुए। १९११-१२ की पंजाब की रिपोर्ट में लिखा है कि "पंजाब में अनाज के क्रय-विक्रय में सावरेन का ही प्रचार है। दस रुपए का नोट सर्वथा नहीं चलता।" महाशय कीन्ज का मत है कि भारत में नोटों का प्रचार विशेष रूप से बढ़ना चाहिए। नोटों के प्रचार को रोकनेवाला सावरेन का प्रचार कभी अभीष्ट नहीं है। इंग्लैंड में चैक का प्रयोग बहुत ही अधिक है, अतः सावरेन प्रामाणिक मुद्रा होते हुए भी विशेष रूप से व्यवहार में नहीं आती है। भारत में चेक का प्रयोग बहुत कम है। अतः यहाँ नोटों का प्रचार ही बढ़ाना चाहिए।"

इसमें संदेह भी नहीं है कि भारत को अपना धन सोने-चाँदी के गहने बनवाने के स्थानों पर खानों, खनिज व्यवसायों तथा अन्य उत्पादक कामों में लगाना चाहिए। महाशय कीन्ज ने ठीक कहा है कि यदि भारतवर्ष अपना धन व्यापारीय

व्यावसायिक उत्पादक कामों में लगावे तो संसार के मुद्रा-बाजार पर भारत का प्रभुत्व हो जाय* ।

—:*:—

४—भारतीय पत्रमुद्रा

भारतीय धातविक मुद्रा के संबंध में पूर्व परिच्छेद में प्रकाश डाला जा चुका। पत्रमुद्रा का विषय भी महत्वपूर्ण है। अतः अब उसी पर प्रकाश डाला जायगा।

भारत में रुपया एक प्रकार का नोट ही है। सरकारी छाप जैसे कागज पर पड़ती है, वैसे ही चाँदी पर पड़ सकती है। १८९३ से पहले तक यह बात न थी। टक्सालों के जनता के लिये न खुलने से ही यह घटना उत्पन्न हुई है।

छोटे मोटे लेनदेन के लिये रुपयों का निकलना उपयोगी है। परंतु आर्थिक दृष्टि से इससे बढ़कर फजूलखर्ची और क्या हो सकती है कि किसी राष्ट्र में अप्रामाणिक या कृत्रिम मुद्रा अपरिमित संख्या में प्रति वर्ष निकाली जाय।

---

* It a time comes when Indians learn to leave off their unfertile habits and to divert their hoards in to the chanels of productive Industries and to the enrichment of their fields, they will have the money markets of the world at their mercy.

Indian Currency and Finance by John Maynard Keynes, (1913). P. 100.

रुपयों को निकालने से पूर्व भारत सरकार रुपए की चाँदी तथा रुपए से खरीदी गई चाँदी में जो भेद है, उसी को अपने स्थिर कोष में जमा करती है। बड़े बड़े लेनदेन के लिये सरकार ने कागजी नोट भी निकाले हैं। इनका सबसे अधिक लाभ यह है कि फसल कटने के दिनों में जब रुपयों की माँग बहुत ही अधिक बढ़ जाती है, सरकार नोटों के द्वारा उस माँग को पूरा कर देती है और माँग के कम होने पर उनका नष्ट करना या व्यवहार से पृथक् कर लेना भी सुगम होता है। इस कार्य्य-क्रम में पर्य्याप्त अधिक मितव्ययिता है।

१८३९-४३ के राजनियमों के अनुसार बम्बई, मद्रास तथा बंगाल के प्रांतीय बैंकों को बैंक नोट निकालने का अधिकार था। इन बैंक नोटों का व्यवहार प्रायः प्रांत की राजधानियों में ही था। १८६१ में भारत सरकार ने बैंक नोट निकालने का अधिकार प्रांतीय बैंकों से ले लिया और अपनी ओर से सरकारी नोट निकालना प्रारंभ किया। उस समय से अब तक भारत के किसी बैंक को नोट निकालने का अधिकार नहीं है।

सरकारी नोटों के संबंध में सबसे पहला प्रस्ताव महाशय जेम्ज विल्सन ने ही किया था। उनके प्रस्ताव को जब कार्य्य-रूप में परिणत किया गया, उससे पूर्व ही उनकी मृत्यु हो गई। १८६१ का पत्रमुद्रा-संबंधी राजनियम विल्सन के प्रस्ताव से कुछ कुछ भिन्न भिन्न है।

सन् १८४४ से पूर्व इंग्लैंड में नोट निकालने के संबंध में

बहुत ही अधिक विवाद था। साधारणतया नोट निकालने के निम्नलिखित दो ही सिद्धांत मुख्य समझे जाते थे—

(१) बैंकों के हाथ में नोट निकालने का अधिकार न होना चाहिए।

(२) सरकारी पूँजी के आधार पर थोड़ी संख्या में ही नोट निकालना चाहिए। यदि अधिक संख्या में नोट निकालने की जरूरत पड़े, तो उसके आधार पर सोना या सोने की मोहरें धरोहर में जमा कर दी जायँ।

इन दो सिद्धांतों से प्रभावित होकर इंग्लैंड के आयव्यय-संबंधी प्रश्नों को सरल करनेवाले विद्वानों ने १८४४ में बैंक आफ् इग्लैंड के संबंध में राजनियम बनवाए। यह नियम अपूर्ण तथा दोषयुक्त हैं; क्योंकि इनके आधारभूत उल्लिखित दोनों ही सिद्धांत सच से कहीं दूर हैं।

इंग्लैंड के बैंकों ने नोट-प्रकाशन में कठिनाइयाँ देखकर चेकों के द्वारा काम चलाना शुरू किया। यही कारण है कि इंग्लैंड में आजकल जनता नोटों के स्थान पर चेकों के द्वारा ही प्रायः अपना काम चलाती है।

विदेशीय राष्ट्रों में इंग्लैंड के सदृश ही नोट निकालने के संबंध में विवाद था। वहाँ इंग्लैंड के सदृश ही भिन्न भिन्न उपायों को काम में लाया गया। लड़ाई के पूर्व जर्मनी में बैंक ही नोट निकालते थे और फ्रांस में यही काम जातीय बैंक

करता था। अधिक संख्या में नोट न निकल जायँ, इसके लिये दोनों ही राष्ट्रों में भिन्न भिन्न राजनियम बनाए गए।

भारत में भी १८६१ में इसी ढंग का विचार उठ खड़ा हुआ। इंग्लैंड का कानून ही यहाँ पर भी दुहराया गया। परंतु भारत की मुद्रा चाँदी का रुपया था जो कि १८६१ में स्वेच्छापूर्वक टकसालों से जनता के लिये बनाया जाता था और जिसका बाजारी चाँदी से कुछ भी भिन्न मूल्य न था, अतः यहाँ पर किसी ढंग की भी गड़बड़ न हुई। कार्य्य अच्छी तरह चलता रहा। १८६३ में जब रुपए की टकसालें जनता के लिये बन्द हो गईं, उस समय रुपए में बाजारी दाम से कम चाँदी हो गई और पत्रमुद्रा या कागजी नोटों का आधार रुपयों में रखना सुगम हो गया। समयांतर में स्वर्ण को भी भारतीय कागजी नोटों के बदले धरोहर में रखा जाने लगा। सरकार ने निम्नलिखित सब स्थानों से कागजी नोटों के निकालने का प्रबंध किया है—

(१) कलकत्ता। बंगाल, पूर्वीय बंगाल तथा आसाम की जरूरतों के लिये इसी स्थान से कागजी नोट निकाले जाते हैं।

(२) कानपुर। संयुक्त प्रांत की जरूरतों के लिये।

(३) लाहौर। पंजाब तथा उत्तर पश्चिमी प्रांत की जरूरतों के लिये।

(४) मद्रास। मद्रास प्रांत तथा कुर्ग की जरूरतों के लिये।

(५) बम्बई। बम्बई तथा मध्यप्रांतों की जरूरतों के लिये।

(६) कराची। सिंध की जरूरतों के लिये।

(७) रंगून। बर्मा की जरूरतों के लिये।

सरकार ने ५,१०,५०,१००,५००,१००० तथा १०००० रुपयों तक के नोट निकाले हैं और उन पर लिखा है कि जरूरत पड़ने पर दिखाते ही इनके बदले रुपए दे दिए जायँगे। लड़ाई के दिनों में सरकार ने १ तथा २½ रुपए के भी नोट निकाले। इनमें से १) का नोट अब तक अच्छी तरह से चल रहा है।

नोटों के संबंध में सरकार ने निम्नलिखित राजनियम बनाए हैं—

(क) प्रत्येक मंडल या प्रांत में प्रांतीय नोट प्रामाणिकतया कोष-प्रवेश्य हैं।

(ख) सरकार को किसी मंडल या प्रांत के नोट में राज-कर दिया जा सकता है।

(ग) रेलवे कंपनियाँ सरकारी नोटों को बिना किसी प्रकार के विरोध के ग्रहण करें और उनके बदले सरकारी खजाने से स्वेच्छानुसार रुपया ले लें।

(घ) सरकार अपनी सुगमता को सामने रखते हुए एक मंडल या प्रांत के नोट के बदले दूसरे प्रांत के खजाने से रुपया दे सकती है। २५०) रुपये के नोटों तक के लिये यथा-सामर्थ्य बिना रुकावट के रुपया दिया जायगा, चाहे वह नोट किसी मंडल या प्रांत का

क्यों न हो। २५०) रुपये से कम दाम के नोटों के बदले तो सुगमता से ही पूरी मात्रा में रुपया दे दिया जायगा।

उल्लिखित राजनियमों का महत्व स्पष्ट है। भारत बहुत बड़ा देश है। उसमें अनेक प्रांत हैं जिनकी जरूरतें एक सदृश नहीं हैं। बंगाल को जितने सिक्के की जरूरत है, उतने सिक्कों की जरूरत मध्यप्रांत या संयुक्तप्रांत को नहीं है। चावल की फसल में भारत का करोड़ों रुपया बर्मा में पहुँचता है और सर्दी की फसलों के कटने पर बसंत के दिनों में बम्बई, मद्रास तथा बंगाल की राजधानियों का रुपया संयुक्तप्रांत, पंजाब आदि प्रांतों में पहुँचता है। यदि सरकार नोटों के बदले सब स्थानों में नकद रुपया देने का प्रबंध करे और "मंडल या प्रांत के नोटों के बदले उस मंडल या उस प्रांत में ही रुपया दिया जायगा" इस नियम को हटा दे तो सरकार को करोड़ों रुपया एक प्रांत से दूसरे प्रांत में भेजना पड़े और यह सब कुछ करते हुए भी खतरा ज्यों का त्यों उसके सिर पर बना रहे। यदि छोटे छोटे दामों के नोटों के बदले भी सरकार जनता को स्वेच्छानुसार सभी प्रांतों में रुपया न दे और जिस मंडल का नोट हो, उसी मंडल से उसके बदले रुपया मिले और इसके नियम को अनुचित सीमा तक सख्ती के साथ प्रयोग में लावे तो जनता में सरकारी नोटों का प्रयोग घट जाय और वे सर्व-प्रिय न रहें। क्योंकि रेलों के द्वारा प्रति दिन एक प्रांतों के लोग

दूसरे प्रांत में पहुँचते हैं। नोटों के बदले सभी प्रांतों में रुपया मिल सकता है, इस कारण किसी को भी नोटों के बदले रुपया लेने की चिंता नहीं करनी पड़ती। आम तौर पर १००) तक के नोटों का ही अधिकतर व्यवहार है। इससे अधिक मूल्य के नोटों का व्यवहार बहुत ही परिमित है और वह एक मात्र व्यापारियों के लेनदेन में ही चलता है। यही कारण है कि सरकार ने १००) के स्थान पर २५०) रुपये के नोटों तक के लिये सभी प्रांतों में रुपया दे देने का प्रबंध कर दिया है। इसका परिणाम यह है कि सरकार के नोट बहुत ही अधिक प्रिय हैं और भारत के किसी भी प्रांत में जाते समय उनको साथ ले जाते हुए कुछ भी दिक्कत नहीं होती।

कई एक मुद्रातत्वज्ञों का विचार है कि सरकार को उल्लिखित राज-नियम सर्वथा ही हटा देना चाहिए और मंडल-संबंधी बाधा दूर कर देनी चाहिए। शुरू शुरू में दो तीन साल तक सरकार को तकलीफ होगी और अपनी साख जमाने के लिये एक प्रांत से दूसरे प्रांत में रुपया पहुँचाना पड़ेगा। परंतु ज्यों ही सरकार की साख लोगों में जम गई, त्यों ही सरकार की संपूर्ण कठिनाइयाँ दूर हो जायँगी। लोग नोटों के बदले रुपया लेने के लिये कुछ भी चिंतित न होंगे और सरकारी नोटों का ही विशेष तौर पर प्रयोग करेंगे। इससे सरकारी नोट बहुत ही अधिक प्रिय हो जायँगे। सन् १९१० में पत्रमुद्राध्यक्ष (Comptroller of Paper

Currency) ने सरकार को सूचित किया था कि ५) तथा १०) के नोटों के सर्वप्रिय हो जाने से उनके बदले बहुत कम रुपया माँगा गया; और जितना किसी भी मंडल से माँगा गया, उसके बदले रुपया देने में उस मंडल को कुछ भी कठिनाई न मालूम पड़ी।*

असल बात तो यह है कि चाहे सरकार बाधाएँ रखे चाहे न रखे, नोटों का विकास प्रांतीय मंडल-संबंधी बाधाओं को क्रमशः दूर करके संपूर्ण भारत को एक मंडल का रूप देने की ओर है। सरकार ने भी विकास की इस गति को अपनी नीति से सहायता पहुँचाई है। वह समय आ सकता है जब कि उल्लिखित मंडल-संबंधी बाधाएँ क्रमशः नष्ट होते होते कानून की किताब में ही रह जायँ या भारत-सरकार उनको निरर्थक समझकर हटा दे।

ऐसे भी समय आ चुके हैं जब कि अज्ञानी अबोध लोगों ने भिन्न मंडल के नोटों को प्राप्त कर कष्ट उठाया। अब तक दिलों में नोटों के प्रति कुछ न कुछ संदेह बना ही रहता है। अँग्रेज एक भिन्न जाति के हैं और शासक या व्यापारी के रूप में कुछ परिमित समय के लिये भी भारत में आते हैं। उनके कागजी नोटों को लेते हुए जनता दिल में सदा ही झिझकती रहती है। जनता के दिल में यह बात बैठी हुई है कि यह कष्ट के साथी नहीं हैं। भारत का धन लेकर यह इंग्लैंड चले

---

* Report of Comptroller of Paper Currency, 1910.

जायँगे। कागजी नोटों से अंतिम हानि भारतीयों को ही होगी। इस प्रकार के अनेक कारण हैं जो सरकारी नोटों के प्रति जनता की हार्दिक प्रीति के बाधक हैं।

सरकारी नोटों का भ्रमण तीन प्रकार का है—

(१) कल्पित भ्रमण या ग्रॉस भ्रमण (Gross circulation)

(२) वास्तविक भ्रमण या नेट भ्रमण (Net circulation)

(३) व्यापारीय भ्रमण या एक्टिव भ्रमण (Active circulation)

सरकार ने अब तक जितने नोट निकाले हैं और जिनका रुपया जनता को नहीं दिया है, उनको कल्पित भ्रमण की श्रेणी में रखा जाता है। वास्तविक भ्रमण उन्हीं नोटों का समझा जाता है जो जनता में प्रचलित हैं। राजकोष में जो नोट पहुँच गए उनको वास्तविक भ्रमण की सीमा में नहीं रखा जाता। जनता के लेनदेन में जो नोट चल रहे हैं, उन्हीं को व्यापारीय भ्रमण की कक्षा में गिना जाता है। प्रांतीय बैंकों में जो नोट जमा हैं, उनको व्यापारीय भ्रमण से बाहर समझा जाता है।

सरकारी नोटों का भ्रमण किस प्रकार दिन पर दिन बढ़ा है, निम्नलिखित सूची इस बात पर अच्छी तरह प्रकाश डालती है।*

सन्	लाख रुपयों में			दस लाख पाउंडों में विनिमय की दर १ शि० ४ पेंस	
	कल्पित भ्रमण	वास्तविक भ्रमण	व्यापारी भ्रमण	कल्पित भ्रमण	व्यापारी भ्रमण
१८९२——९३	२७१०	२३३३	१६५३	१८	१३
१८९३——९४	२८२९	२०८३	१७८३	१७८५	१२
१८९९—१९००	२७९६	२३६७	२१२७	१९½	१४
१९००—१९०१	२८८८	२४७३	२२०५	१९⅓	१४¼
१९०२—१९०३	३३७४	२७३५	२३४९	२२⅓	१५¼
१९०४—१९०५	३९२०	३२७६	२८११	२६	१८¼
१९०६—१९०७	४५१४	३९४९	३३९३	३०	२२½
१९०८—१९०९	४४५२	३९०२	३३१०	२९⅓	२२
१९०९—१९१०	४९६६	४५३५	३७२१	३३	२५
१९१०—१९११	५४३५	४६४८	३२७५	३६	२६
१९११—१९१२	५७३७	४९४९	४१८९	३८	२८

* Indian Currency and Finance by John Maynard Keynes (1913). P47.

प्रति वर्ष ३१ मार्च को सरकारी नोटों का कल्पित भ्रमण इस प्रकार था ।*

सन्	कल्पित भ्रमण (दस लाख पाउंडों में)	सन्	कल्पित भ्रमण (दस लाख पाउंडों में)
१६००	१६	१६०६	३०$\frac{१}{३}$
१६०२	२१	१६१०	३६$\frac{१}{२}$
१६०४	२५$\frac{१}{४}$	१६११	„
१६०६	३०	१११२	४१
१६०८	३१$\frac{१}{२}$	१६१३	४६

सरकारी नोटों का मासिक भ्रमण निम्नलिखित प्रकार है ।*

दस लाख पाउंडों में

पंचवर्षीय	१८८०—१८८१	८$\frac{१}{२}$
„	१८८५—१८८६	६$\frac{१}{२}$
„	१८६०—१८६१	११$\frac{१}{२}$
„	१८६५—१८६६	१६
„	१६००—१६०१	१७$\frac{१}{२}$
„	१६०५—१६०६	२४
„	१६१०—१६११	३२
एकवर्षीय	१६११...१६१२	३८

सरकारी नोटों के लिये धरोहर में धन कितना रखा जाय, इस संबंध में साधारण सिद्धांतों के अनुसार ही काम किया जाता है। समय समय पर राजनियम द्वारा धरोहर संबंधी धन की राशि नियत की जाती है। शुरू शुरू में सरकारी रुपयों में ही धरोहर थी, परंतु पीछे से सोने तथा पाउंडों में भी धरोहर रखी जाने लगी। १८९० तक सरकारी नोटों के बदले धरोहर में छः सौ लाख (६०००००००० रु०) जमा था। १८९१ में धन-राशि सात सौ लाख (७०००००००) रुपया, और १८९२ में आठ सौ लाख (८००००००० रु०), १८९७ में १००० लाख रुपया, १९०५ में १२०० लाख रुपया जिसमें से २०० लाख रुपये का धन इंग्लैंड राज्य की पूँजी में और १९११ में १४०० लाख रुपया जिसमें से ४०० लाख रुपया (२६६६००० पाउंड) इंग्लैंड की पूँजी में भारत-सरकार ने कागजी नोटों के बदले धरोहर में जमा किया। इस धरोहर के धन से सरकार को जो ब्याज मिलता है, वह कागजी नोट-भ्रमण की आय (Profits of Note Circulation) के नाम से प्रतिवर्ष प्रकाशित किया जाता है। आजकल यह आमदनी ३०००००० पाउंड से ऊपर है।

सन् १८९८ तक कागजी नोट की धरोहर में संपूर्ण धन रुपयों में था। १८९८ के स्वर्ण-नोट राज-नियम (Gold Note Act) द्वारा धरोधर का धन सोने के सिक्कों में रखा जाने लगा। १९०० के राज-नियम से नोटों का कुछ धन इंग्लैंड

में भी रखा जाने लगा। १९०५ के राजनियम से भारत-सरकार को पूरी स्वतंत्रता मिल गई कि वह नोटों का धन चाहे इंग्लैंड में रखे और चाहे भारत में रखे और चाहे दोनों ही स्थानों में रखे। केवल रुपयों को भारत में ही रखना चाहिए। भिन्न भिन्न समयों में भारत का कितना कितना धन कहाँ कहाँ पर था, इसका व्योरा निम्नलिखित प्रकार है:—

कागजी नोटों के कोष का स्वर्ण दस लाख (पाउंडों में)

सन् मार्च ३१	भारत में	लंडन में	कुल योग
१८९७	×	×	×
१८९८	¼	×	¼
१८९९	२	×	२
१९००	७½	१½	९
१९०१	६	×	६
१९०२	७	×	७
१९०३	१०	×	१०½
१९०४	११	×	११
१९०५	१०¼	×	१०¼
११०६	४	७	११
११०७	३½	७	१०
१९०८	२¼	३½	६
१९०९	×	१¼	१¼
१९१०	६	२½	८½
१९११	६	५	११
१९१२	१५½	५½	२१
१९१३	१९½	६	२५½

१९१३ की ३१ मार्च को पत्रमुद्रा-कोष का विभाग इस प्रकार था—

रुपए भारत में ...	११००००००	पाउंड धन के
स्वर्ण " ...	१६५०००००	"
स्वर्ण लंडन में ...	६००००००	"
सरकारी पूँजीपत्र ...	९५०००००	"
	४६००००००	पाउंड धन

महाशय कीन्ज के मत में भारतीय पत्रमुद्रा प्रणाली निम्न-लिखित तीन बातों में अन्य देशों से भिन्न है—

(१) भारत में पत्रमुद्रा बैंक नहीं निकालते हैं। राज्य इस काम को स्वयं ही करता है। भारतीय बैंक हुंडियों में लेन देन तथा व्यापारी व्यवसायी को उधार पर धन देने का ही काम करते हैं। अन्य देशों में पत्रमुद्रा बैंक ही निकालते हैं।

(२) भारत में लड़ाई से पहले एक भी राष्ट्रीय बैंक न था; अतः सरकारी खजानों में ही भारत का धन जमा था। इसका कुछ भाग इंग्लैंड में और कुछ भाग भारत में रखा हुआ था। अमेरिका में भी खजानों में ही धन रखा जाता है। अन्य देशों में यह बात नहीं है। राष्ट्रीय बैंकों में ही अन्य देशों का धन जमा रहता है।

(३) भारत की मुद्रा में लचक नहीं है। युरोपीय राष्ट्रों में चेक तथा साख का प्रयोग बहुत ही अधिक है अतः वहाँ

जरूरत के अनुसार मुद्रा बढ़ाई जा सकती है; परंतु भारत में यह बात नहीं है।

यदि भारत में राष्ट्रीय बैंक खुल जाय, नोट निकालना उसी का कर्तव्य हो और देश का धन भी उसी के पास रख दिया जाय तो भारत की बहुत सी असुबिधाएँ दूर हो जायँ। निस्सन्देह आजकल तीनों प्रान्तीय बैंकों को आपस में मिला दिया गया है; परंतु वह कहाँ तक राष्ट्रीय बैंक का रूप धारण करेंगे, इसका निर्णय अभी नहीं किया जा सकता।

५—काउंसिल बिल का विक्रय तथा धन-गमन

काउंसिल बिल के द्वारा एक देश से दूसरे देश में धन भेजना भारत में ही प्रचलित है। प्रायः अन्य सभ्य राष्ट्रों में काउंसिल बिल का प्रयोग नहीं है। इसका मुख्य कारण यह है कि भारत का राज्य एक व्यापारीय कंपनी का उत्तराधिकारी है। भारत तथा इंग्लैंड का आर्थिक संबंध बहुत ही घनिष्ट है। प्रति वर्ष करोड़ों रुपए एक दूसरे देश से आते जाते हैं। इंग्लैंड के निवासी ही भारत में उच्च से उच्च पदों पर विद्यमान हैं। उनको अपना धन इंग्लैंड में ही भेजना पड़ता है। धन के गमनागमन में सुगमता रहे, इसी लिये भारत में काउंसिल बिल का आविष्कार किया गया।

होम चार्जेज़ के रूप में सरकार प्रति वर्ष लड़ाई से पहले १९००००० से २०००००० पाउंड तक धन भेजती थी।

धन का गमनागमन वृथा को न हो, इसलिये रेल आदि का कर्ज जो इंग्लैंड में भारत सरकार ग्रहण करती है, उसको होम चार्जेज में से काट लेती है; और प्रायः १५००००००० पाउंड से १८००००००० पाउंड तक धन ही विदेश में भेजती है।

भारत सरकार भारत के धन को इंग्लैंड में भेजने के लिये लंडन बिल्ज़ का रुपया कलकत्ता में ही व्यापारी व्यवसायियों को दे देती है। यही काम विनिमय बैंकों (Exchange Banks) का है। परंतु सरकार इसमें सावधानी से काम करती है और विनिमय बैंकों के साथ स्पर्धा नहीं करती; क्योंकि सरकार का मुख्य उद्देश्य अपनी जरूरतों को पूरा करना ही है।

भारत सचिव बैंक आफ् इंग्लैंड के आफिस में प्रति बुधवार के दिन काउंसिल बिल का विक्रय करता है। जिन जिन अँग्रेजों को भारत में धन भेजना होता है, वे उन बिलों को खरीद लेते हैं और उनके बदले सोने की मोहरें भारत सचिव को दे देते हैं।

१८०० तक काउंसिल बिल्ज का विक्रय एकमात्र होम चार्जेज के अनुसार होता था। परंतु १८०० के बाद यह बात नहीं रही। विनिमय की दर को स्थिर रखना भी उसका मुख्य उद्देश हो गया है। इंग्लैंड से भारत में सोना भेजने का खर्च १ शि० ४ पैंस पर $\frac{1}{2}$ पैंस है। यदि भारत-सचिव काउंसिल-बिल पर्य्याप्त राशि में न बेचे और माँग अधिक देखकर

उसकी दर १ शि० ४ पेंस के स्थान पर १ शि० ४¼ कर दे तो स्वाभाविक है कि अँग्रेज भारत-सचिव को सोने की मोहरें न देकर उनको सीधे ही भारत में भेज देंगे। भारत में बैंकों के द्वारा इतना सोना पहुँचकर रुपयों के द्वारा भुनाया जायगा और इस प्रकार रुपयों की माँग अपरिमित सीमा तक बढ़ जायगी। इसका परिणाम यह होगा कि भारत-सरकार को टकसाल से रुपए बहुत ही अधिक निकालने पड़ेंगे और सोना पुनः इंग्लैंड में भेजकर बहुत बड़ी राशि में चाँदी खरीदनी पड़ेगी। इस प्रकार सोना एक हाथ से इंग्लैंड से भारत में आवेगा और दूसरे हाथ से पुनः वहाँ लौट जायगा। इस फजूलखर्ची को रोकने के लिये भारत-सचिव को १ शि० ४½ पेंस से कम दर पर ही प्रायः काउंसिल बिल्ज बेचने पड़ते हैं।

अभी लिखा जा चुका है इंग्लैंड से भारत में सोना भेजने का व्यय प्रति रुपया ⅛ पेंस है। यही कारण है कि १९०४ की जनवरी से भारत सचिव ने यह सूचना दे दी है कि काउंसिल बिल १ शि० ४⅛ पेंस पर ही बेचे जायँगे। बहुधा यह भी देखने में आया है कि इंग्लैंड से भारत में सोना भेजने का व्यय ⅛ पेंस से भी कम पड़ जाता है और भारतसचिव को बहुत प्रकार की कठिनाइयाँ झेलनी पड़ती हैं। भारतवर्ष आस्ट्रेलिया तथा इंग्लैंड के बीच में है और मिस्र भारत तथा इंग्लैंड के बीच में है। आस्ट्रेलिया, भारत, मिस्र तथा इंग्लैंड

भिन्न भिन्न बड़े बड़े बैंकों से आपस में जुड़े हुए हैं। आम तौर पर यह देखने में आया है कि आस्ट्रेलिया इंग्लैंड में सावरेन भेजने के लिये भारत में भेज देता है और भारत के यूरोपीय बैंक उतने ही सावरेन अपनी शाखा के द्वारा इंग्लैंड में भिन्न भिन्न व्यक्तियों को दे देते हैं। ऐसी ही घटना अलक्जंड्रिया के द्वारा हो जाती है। इंग्लैंड से सावरेन सीधे भारत में न पहुँच कर अलक्जंड्रिया में ही पड़े रह जाते हैं और बैंकों के द्वारा उनका भुगतान भारत में हो जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि इंग्लैंड से भारत में सावरेन पहुँचने का व्यय $\frac{१}{८}$ पेंस से भी कम हो जाता है। लड़ाई से पहले इस पेचीली हालत में पड़कर भारतसचिव को काउंसिल बिल १ शि० ३$\frac{३१}{३२}$ पेंस तक पर बेचने पड़ते थे। परंतु जब दर इससे भी अधिक नीचे जाने लगती, तब उसको कुछ समय के लिये बिलों का विक्रय रोक देना पड़ता था। १५०६—०७ से १९१५—१६ तक भारतसचिव ने बिलों का विक्रय किस प्रकार किया, इसका ब्योरा इस प्रकार है:—

काउंसिल बिल का विक्रय

सन्	धन (पाउंड में)	विनिमय की दर
१९०६—०७	३३४१८७१६	१ शि० ४·०३४ पेंस
१९०७—०८	१५३०७०६२	१ शि० ४·०२९ पेंस
१९०८—०९	१४१४४५४५	१ शि० ४·९३५ पेंस
१९०९—१०	२७४४४६०९	१ शि० ४·०४१ पेंस

१६१०—११	२६२१२८६६	१ शि० ४'०६१ पेंस
१६११—१२	२७०५८५५०	१ शि० ४'८८३ पेंस
१६१२—१३	२५६३३७१०	१ शि० ४'०५८ पेंस
१६१३—१४	३१२००८२७	१ शि० ४'०७० पेंस
१६१४—१५	७७६४००२	१ शि० ४'००४ पेंस
१६१५—१६	२०३७१४६०	१ शि० ४'०८८ पेंस

विनिमय की दर में १६०७—०८ में विशेष विक्षोभ पैदा हुआ। इसके बाद १६१७ में यही घटना दूसरे रूप में उपस्थित हुई। व्यापारीय संतुलन भारत के पक्ष में बहुत ही अधिक हो गया। इससे भारतसचिव को विनिमय की दर १ शि० ६ पेंस तक करनी पड़ी। यह स्थिति इस हद तक पेचीदा हो गई कि विनिमय की दर कुछ ही महीनों में २ शि० ११ पेंस तक पहुँच गई। रिवर्स काउंसिल बिल बेचकर भारत सरकार ने भारत को जो आर्थिक क्षति पहुँचाई, वह कभी भुलाई नहीं जा सकती।

बट्टे की दर

महायुद्ध से पूर्व प्रान्तीय बैंक राष्ट्र बैंक के रूप में सम्मिश्रित होने के इच्छुक थे। महायुद्ध के खतम होने पर राष्ट्रीय जरूरतों से प्रेरित होकर सरकार ने उनको एक राष्ट्र-बैंक के रूप में परिणत कर दिया।

भारत के मुद्रा बाजार में प्रान्तीय बैंकों की स्थिति महत्व-पूर्ण थी। इंग्लैंड के मुख्य बैंक के तुल्य ही भारतीय प्रान्तीय बैंक भी समय समय पर बट्टे की दर प्रकाशित किया कर

थे। दोनों में जो कुछ भेद था, वह यही था कि बैंक आफ इंग्लैण्ड इंग्लैण्ड के मुद्रा बाजार में अपनी दर प्रचलित करता था और भारतीय प्रांतीय बैंक मुख्य मुख्य नगरों के मुद्रा बाजार की दर के अनुसार अपनी दर रखते थे।

इसी से यह भी स्पष्ट है कि प्रांतीय बैंकों के बट्टे की दर भारतीय मुद्रा बाजार की स्थिति को सूचित कर सकती है, क्योंकि उसकी दर का आधार भी वही है। भिन्न भिन्न समयों में बट्टे की दर के बदलने से भी मुद्रा बाजार की स्थिति जानने में कुछ भी असुविधा नहीं होती। सरकारी कागजों के आधार पर बट्टे की दर क्या रही है, इसका ज्ञान ऊपर की सूची से प्राप्त किया जा सकता है।

यह आवश्यक नहीं है कि तीनों प्रांतीय बैंकों के बट्टे की दर समान हो। प्रायः एक प्रतिशतक का भेद समय समय पर देखा गया है। इसका मुख्य कारण प्रांतीय फसलों की भिन्नता है। भारत में मुद्रा-बाजार में मुद्रा की माँग फसलों पर निर्भर है। फसल के दिनों में मुद्रा की माँग बहुत ही अधिक बढ़ जाती है। प्रांतों की फसलों के भिन्न भिन्न होने से एक प्रांत में जब मुद्रा की माँग बहुत ही अधिक होती है, उसी समय दूसरे प्रांत में मुद्रा की माँग उतनी अधिक नहीं होती। इससे बट्टे की दर में भेद पड़ जाता है। यह भेद बहुत अधिक नहीं हो सकता, क्योंकि एक प्रांत से मुद्रा दूसरे प्रांत में सुगमता से ही पहुँच जाती है। काउंसिल बिल्ज़ तथा

ट्रांसफर्ज का धन किसी भी प्रांतीय बैंक से ग्रहण किया जा सकता है। इससे भी दरों का वैषम्य परिमित सीमा तक ही रहता है। जहाँ की दर गृहीता को अधिक अनुकूल मालूम पड़ी, वह वहीं से रुपया लेता है। इससे किसी एक प्रांतीय बैंक पर बहुत भार नहीं पड़ता।

अभी लिखा जा चुका है कि प्रांतीय बैंकों की दर फसल के अनुसार बढ़ती घटती रहती है। १६०० से १६१३ तक बैंक आफ् बंगाल में फर्वरी तथा अगस्त में जो दर रही है, उसका ब्योरा इस प्रकार है—

१६०० से १६१३ तक बैंक आफ् बंगाल की दर*

सन्	फर्वरी में दर	अगस्त में दर
१६००	८	३
१६०१	८	३
१६०२	८	३
१६०३	८	३
१६०४	७	३
१६०५	७	३
१६०६	६	३
१६०७	६	३

* जाज मेनार्ड कीन्ज लिखित इंडियन करेंसी एण्ड फाइनांस (१६१३). पृ० २४३.

१९०८	...	९	...	३
१९०९	...	८	...	३
१९१०	...	६	...	३
१९११	...	८	...	३
१९१२	...	८	...	३
१९१३	...	८	...	३

उल्लिखित सूची से स्पष्ट है कि सरदी तथा वसंत में भारतीय दर ८ प्रति शतक और गरमी में ३ प्रति शतक रहती है। बैंक आफ़ इंग्लैंड की दर प्रायः अधिक से अधिक ५ प्रतिशतक होती है। जिस समय बैंक आफ़ इंग्लैंड की दर कम से कम हो और भारत में दर अधिक से अधिक हो, उस समय इंग्लैंड का धन बहुत ही अधिक लाभ पर भारत में लगाया जा सकता है। प्रश्न उठ सकता है कि इंग्लैंडवाले इतना अधिक लाभ क्यों नहीं उठाते?

इसका उत्तर यह है कि भारत में साल भर दर एक सदृश नहीं रहती। जो लोग इंग्लैंड से धन मँगाकर भारत में लगाते हैं, उनको मन्दी के दिनों में हानि सहनी पड़ती है। फसलों के दिनों में जब तेजी आती है, उसीमें उनको पुरानी हानि पूरी करनी पड़ती है।

महायुद्ध के पूर्व इंग्लैंड तथा भारत के बीच पूँजी के गमनागमन का व्यय प्रति रुपया १/१६ पेंस से ५/३२ पेंस तक था। और कभी कभी यह व्यय ३/१६ तक जा पहुँचता था। एक

रुपये पर $\frac{३}{३२}$ पेंस मार्ग-व्यय का तात्पर्य्य ६ प्रति शतक व्यय है। यदि इसकी पूर्ति तीन महीने में की जा सके तो संपूर्ण हानि को पूरा करने के लिये २$\frac{1}{4}$ प्रति शतक आमदनी को पृथक् रखना पड़ता है। बहुधा यह हानि ५ प्रति शतक तक पहुँच जाती है। यही कारण है कि प्रायः इंग्लैंड तथा भारत की दर भिन्न हो जाती है।

दक्षिणी अमेरिका के सदृश ही भारत में भी स्थिर धरोहर पर बड़े बड़े विनिमय बैंक (Exchange Bank) ३$\frac{1}{2}$ प्रति शतक से अधिक धन नहीं देते, यद्यपि वहाँ बट्टे की दर कम नहीं है।

इंग्लैंड तथा भारत की दर में साम्य रहे और भारत की अधिक दर से इंग्लैंड लाभ उठा सके, इसके लिये सरकार ने रुपए तथा पाउंड के विनिमय को दर नियत कर दो है। विनिमय की दर के नियत होने से इंग्लैंड तथा भारत के बीच पूँजी का गमनागमन सुगम हो गया है। १८५७ तथा १८९८ की अधिक दर संबंधी घटना कभी पैदा न होती, यदि विनिमय की दर सरकार द्वारा नियत होती। उस समय युरोप से धन मँगाना और भारत से यूरोप में धन भेजना बहुत कठिन था। विनिमय की दर की चंचलता से व्यापारियों तथा कोषाध्यक्षों को यह विश्वास न था कि इंग्लैंड में धन भेजने से या इंग्लैंड से धन मँगाने में कुछ भी लाभ है। अब यह बात नहीं रही। विनिमय की दर के नियत होने से पूँजी

का गमनागमन सुगम हो गया है। आजकल यह कहा जा सकता है कि फसल के दिनों में तथा उससे भिन्न दिनों में दर क्या होगी। अनुपात के नियत होने से १२ सैंकड़े तक दर का जाना साधारण घटना नहीं रही। इसमें संदेह भी नहीं है कि इंग्लैंड की तुलना में भारत की दर कहीं अधिक है। इस दर को किस प्रकार कम किया जाय, इसी ओर अर्थतत्वज्ञों का विशेष रूप से ध्यान है।

आठ तथा नौ प्रति शतक दर को कम करने के दो ही तरीके हैं। एक तो यह है कि इंग्लैंड से भारत तक धन के आने में सुगमता हो जाय और मार्ग-व्यय घट जाय। दूसरा तरीका यह है कि फसलों के दिनों में मुद्रा की माँग के बढ़ते ही भारत से ही धन प्राप्त किया जाय और आवश्यकतानुसार व्यापारियों को रुपए देने का प्रबंध किया जाय।

पहले प्रश्न पर विचार करने के लिये कल्पना करो कि भारत तथा लंडन के मध्य विनिमय की दर १ शि० ४ पेंस नियत कर दी जाती है और सरकार इस दर पर तार के द्वारा एक स्थान से दूसरे स्थान पर रुपया भेजने के लिये तैयार है। होगा क्या ? भारत तथा लंडन का मुद्रा बाजार एक ही बाजार का रूप धारण कर लेगा और दोनों ही स्थानों पर बट्टे की दर भी समान होगी। पूँजी का भ्रमण पूर्वापेक्षया सुगम हो जायगा। प्रतिवर्ष करोड़ों रुपए लंडन से भारत में आवेंगे तथा वर्ष के अंत में पुनः वहाँ पहुँच जायँगे।

विनिमय की दर के नियत करने पर भारत सचिव की स्थिति भी सुगम नहीं रहेगी। जरूरत के अनुसार भारत या लंडन में नियत अनुपात पर धन देने की प्रतिज्ञा करके भारत-सचिव को बहुत सा धन कोष में दोनों ही स्थानों में जमा करना पड़ेगा। यह भी बहुत संभव है कि समय समय पर वह अपने खर्च पर एक देश से दूसरे देश में पूँजी पहुँचावे, ताकि अपनी प्रतिज्ञा के पूर्ण करने में विफल न हो सके।

नियत विनिमय दर का व्यापारीय संतुलन पर भी विशेष प्रभाव पड़ता है। यदि दर १ शि० ४ पेंस के स्थान पर २ शि० पहुँच जाय, तो भारत का धन लंडन में पहुँच जायगा और वहाँ से विलायती माल बहुत ही अधिक मात्रा में भारत में मँगाया जायगा। परंतु यदि दर १ शि० ३ पेंस हो जाय तो इससे विपरीत होगा। लंडन की पूँजी भारत में आवेगी और भारत से लंडन में पूँजी का जाना कुछ कुछ कठिन हो जायगा।

यदि भारतसचिव १ शि० ४ पेंस की दर को किसी हालत में भी न बदले और इसी दर पर पूँजी का गमनागमन जारी करे, तो उसको अपरिमित धन दोनों ही देशों में कोष में जमा करने पड़े और नाना प्रकार के नुकसान अपने सिर उठाने पड़ें। यही कारण है कि वह ऐसा नहीं करता। समय तथा परिस्थिति के अनुसार वह दर बदलता रहता है। महा-युद्ध के बाद विनिमय की दर का २ शिलिंग ८ पेंस से ऊपर पहुँच जाना और भारत सरकार का रिवर्स काउंसिल बेचकर

दर को २ शिलिंग ११ पेंस तक पहुँचा देना इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि आर्थिक नियमों की अवहेलना करने के लिये भारत सरकार तथा भारतसचिव तैयार नहीं हैं।

स्वाभाविक है कि विनिमय की दर नियत करने पर भी बैंक के बट्टे की दर कम न हो। इसका जो कुछ लाभ है वह यही है कि पूँजी के भेजने तथा मँगाने में पुराने जमाने की तरह खतरे नहीं रहे। बट्टे की दर को कम करने के लिये यदि दूसरे तरीके का अवलंबन किया जाय और भारत की अकर्मण्य पूँजी एकत्र करने का यत्न किया जाय तो बहुत संभव है कि सफलता प्राप्त हो। फसलों के दिनों में मुद्रा बाजार में मुद्रा की तंगी होती है; परंतु सरकार के पास उन्हीं दिनों में मुद्रा की अधिकता होती है। मालगुजारी तथा राजकर का धन उन्हीं दिनों में उसको प्राप्त होता है। यदि सरकार इस अपरिमित धन को उधार देने का प्रबंध करे तो मुद्रा-बाजार की तंगी किसी हद तक कम हो जाय।

लड़ाई से पहले सरकार अपने अधिक धन को इंग्लैंड के मुद्रा-बाजार में लगाती थी। भारतसचिव काउंसिल बिल बेचकर धन प्राप्त करता था और उसको लंडन के मुद्रा-बाजार में उधार दे देता था। इसमें जो कुछ दोष था वह यही था कि लेनदेन दो बार हो जाता था। व्यापारी तथा बैंक एक ओर उधार लिया हुआ धन भारतसचिव को देकर काउंसिल बिल खरीदते थे और भारतसचिव उनसे उस धन को प्राप्त कर

पुनः उन्हीं को उधार दे देता था। विनिमय दर की अधिकता के कारण उसको जो अधिक लाभ मिलता था, वही इसके कार्य्य का हेतु कहा जा सकता है।

कई अर्थतत्वज्ञों का मत है कि भारत सरकार को लंडन में भारत का धन लगाने के स्थान पर भारत में ही धन लगाना चाहिए और लंडन में एक हाथ से धन ग्रहण करना और दूसरे हाथ से धन को उन्हीं लोगों के हाथ में देने का नाटक न खेलना चाहिए। प्रश्न जो कुछ है वह यही है कि भारत सरकार का आर्थिक हित किसमें है। विनिमय दर की अधिकता से उत्पन्न लाभ तथा उधार दिए धन के ब्याज से भारत में धन कम मिले, तो आर्थिक सिद्धांत के अनुसार यह विधि कहाँ तक मितव्ययितापूर्ण है? वास्तविक बात तो यह है कि भारत में लंडन की अपेक्षया ब्याज की मात्रा अधिक है। भारत में धन लगाने के पक्ष में निम्नलिखित तीन युक्तियाँ हैं—

(१) खतरे का अभाव—लंडन से भारत में धन मँगाने में २ प्रतिशतक का नुकसान है जैसा कि पूर्व में दिखाया जा चुका है। विनिमय दर की चंचलता से लंडन से धन उधार लेना और वहाँ पुनः भेजना खतरे की बात है। रिवर्स काउंसिल के दिनों से अब तक कितने ही परिवर्तन विनिमय दर के कारण उपस्थित हुए। इसी से स्पष्ट है कि भारत का धन भारत में ही लाना उचित तथा मितव्ययितापूर्ण है।

(२) व्याज का आधिक्य—लंडन की अपेक्षया भारत में व्याज की मात्रा अधिक है। सरकार को भारत में धन लगाने से अधिक आमदनी है।

(३) संपत्ति की अधिकता—भारत सरकार का सारा धन यदि भारत में न लग सके और कुछ धन बचे तो उसको अन्य उत्पादक कामों में लगाया जा सकता है।

प्रश्न जो कुछ है वह यही है कि भारत सरकार अपना धन भारत में कैसे लगावे? किस बैंक के द्वारा जनता को धन उधार दे? लड़ाई से पहले भारत में प्रांतीय बैंक ही ऐसे बैंक थे जिनकी स्थिति दृढ़ नींव पर थी। शुरू शुरू में सरकार ने अपने धन से प्रांतीय बैंकों को बहुत लाभ न प्राप्त करने दिया। परंतु अब समय बदल गया है। प्रांतीय बैंकों के इंपीरियल बैंक या राष्ट्र बैंक के रूप में परिवर्तित होने से बहुत सी उलझनें दूर हो गई हैं। अब सरकार अपने धन को इंपीरियल बैंक के द्वारा जनता में लगा सकती है। इंपीरियल बैंक की आजकल क्या स्थिति है तथा भारत में बंक तथा साख कहाँ तक विद्यमान है, अब इसी पर प्रकाश डाला जायगा।

भारत में बंक तथा साख

अर्वाचीन मिश्रित पूँजी के बंकों के उदय से पूर्व भारत में बंक तथा बैंकर्स विद्यमान थे। इनको महाजन तथा कोठीवाले आदि नामों से पुकारा जाता था। अब भी गाँवों तथा शहरों

के लेनदेन का बड़ा भारी भाग इन्हीं लोगों के हाथ में है। यही लोग अपनी अपनी कोठियों की ओर से हुंडियाँ निकालते हैं और दूसरों की हुंडियाँ सकारते हैं। इनकी हुंडियाँ बाजार में सरकारी नोटों के सदृश चलती हैं, यद्यपि इनका क्षेत्र सरकारी नोटों के सदृश विस्तृत नहीं है। प्राचीन काल में राजा युद्ध का व्यय सँभालने के लिये इन्हीं लोगों से धन उधार लेते थे और शांति के दिनों में इनको धन लौटा देते थे। इन्हीं महाजनों से पेशवा लोगों को बड़ी भारी सहायता मिली थी।

भारत के महाजनों के सदृश ही इंग्लैंड में सुनार तथा जौहरी लोग थे। इंग्लैंड का लेनदेन उन्हीं के हाथों में था। क्राम्वैल ने राजकर के आधार पर धन लिया था; और फिर उनको धन लौटा दिया था। चार्लस द्वितीय ने भी क्राम्वैल का अनुकरण किया और ८ प्रतिशतक व्याज पर बहुत सा धन प्राप्त किया*। सारांश यह है कि नवीन काल के आरंभ से पूर्व युरोप तथा भारत में लेनदेन का काम सुनारों या महाजनों के पास ही था। महाशय फिंड्ले शर्रा (Findlay Sharras) का कथन है कि आंग्लकाल से पूर्व भारत में देश का लेनदेन तथा व्यापार बनिए लोगों के ही हाथ में था। छोटे से छोटे

---

* Townsend Warnet: Land-Marks in English Industrial History.

गाँव से लेकर बड़े से बड़े नगर तक यह लोग फैले हुए थे। बम्बई तथा गुजरात में पारसी तथा भाटिए लोग, दक्खिन में छत्रीस लोग और संतुक्तप्रांत तथा बंगाल में बनिए मारवाड़ी आदि अब तक लेनदेन का काम करते हैं। महाजनी भाषा को यह लोग काम में लाते हैं और हुंडी का क्रय विक्रय करते हैं*। बनियों के सदृश ही आजकल लेनदेन का काम बहुत से बंक करते हैं जिनका वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है–

(१) बंगाल, बंबई तथा मद्रास के अपने अपने प्रेसीडेंसी बंक (प्रांतीय बंक)

(२) युरोपीय एक्सचेंज बंक (युरोपीय विनिमय बंक)

(३) इंडियन ज्वाइंट स्टाक बंक (भारतीय मिश्रित पूँजी बंक)

(१) बंगाल, बंबई तथा मद्रास के प्रांतीय बंक। बंगाल का प्रांतीय बंक १८०६ में खुला था। १८०९ में इसको ईस्ट इंडिया कंपनी ने प्रमाणपत्र (Charter) दिया। इसी प्रकार बंबई बंक ने १८४० में तथा मद्रास बंक ने १८४३ में प्रमाणपत्र प्राप्त कर अपना अपना काम शुरू किया। भिन्न भिन्न प्रांतों में इन बंकों के पृथक् पृथक् खुल जाने से बंगाल बंक प्रांतीय बंक ही रह गया और राष्ट्रीय बंक (State Bank) न बन सका। शुरू शुरू में प्रांतीय बंकों का कुछ कुछ सरकारी रूप (Semi Official

---

† Mr. Findlay Sharras: Report of a Lecture delivered in Calcutta in 1914.

Character) था। बंगाल बंक के खुलते समय ईस्ट इंडिया कंपनी ने उसको कुल पूँजी का एक पाँचवाँ भाग स्वयं दिया था और उसके तीन डाइरेक्टर्स (Directors) स्वयं नियत किए थे। १८५७ के गदर से पूर्व तक कोषाध्यक्ष तथा मंत्री के पद पर राज्य ही किसी न किसी व्यक्ति को नियत करता था। १८६२ तक बंक को नोट निकालने का अधिकार था। परंतु उसके इस अधिकार में क्रमशः नवीन नवीन बाधाएँ डाली गईं और १८३९ तथा १८६२ के बीच में उसके नोट निकालने की संख्या परिमित कर दी गई। १८६२ में भारतीय-राज्य ने नोट निकालने का अधिकार उससे सर्वथा ही ले लिया और एक राज-नियम के द्वारा संपूर्ण प्राइवेट बंकों को नोट निकालने से रोक दिया। उस समय के बाद से अब तक भारत में १८६२ का नियम लग रहा है। यही कारण है कि भारत में एक भी नोट निकालनेवाला बंक (Issue Bank) नहीं है। इससे बंकों को जो नुकसान पहुँचा है, वह अवर्णनीय है। पूर्व प्रकरणों में विस्तृत रूप से यह दिखाया जा चुका है कि किस प्रकार नोटों के सहारे बंक अपनी पूँजी को कई गुना बढ़ा लेते हैं। भारतीय-सरकार १८६२ के राज-नियम से उनका नोट निकालना रोकने से उनको जो नुकसान पहुँचा है, वह स्पष्ट ही है। इससे देश को यह नुकसान पहुँचा है कि अब उसको उतनी पूँजी सुगमता से नहीं मिल सकती, जितनी पूँजी कि तब उसको सुगमता से मिलती जब कि बंकों को

नोट निकालने का अधिकार होता। यही नहीं, इससे व्याज की मात्रा के घटाव को भी धक्का पहुँचा है। १८७५ में भारतीय सरकार ने बंगाल बंक से अपना हिस्सा निकाल लिया और उसके डाइरेक्टर्स नियत करने का अपना अधिकार हटा लिया। इस प्रकार बंगाल बंक का सरकारी रूप लुप्त हो गया। यही घटना मद्रास तथा बंबई के प्रांतीय बंकों के साथ हुई। १८६२ के राज-नियम के अनुसार उनका भी नोट निकालना बंद कर दिया गया और उनको एक प्राइवेट बंक का रूप दे दिया गया।

१८७६ का प्रांतीय बैंक्स एक्ट (The Presidency Banks Act of 18761 अत्यंत आवश्यक है; क्योंकि इसके द्वारा प्रांतीय बंकों के बहुत से अधिकार छीन लिए गए हैं। उनके अधिकारों में निम्नलिखित बाधाएँ डाली गई हैं—

(१) विदेशीय विनिमय बिल के क्रय-विक्रय के द्वारा वह लाभ नहीं उठा सकते। भारत में सकारे जानेवाले विदेशीय विनिमय बिल का ही वह क्रय कर सकते हैं।

(२) वह विदेश में अपनी शाखा नहीं खोल सकते। लंडन से कम व्याज पर रुपया उधार लेकर वह भारत में नहीं लगा सकते।

(३) छः मास से अधिक समय के लिये वह किसी को धन उधार नहीं दे सकते।

(४) अचल पूँजी या संपत्ति के आधार पर वह धन उधार नहीं दे सकते।

(५) दो आदमियों के हस्ताक्षर बिना करवाए वह प्रामेसरी नोट के आधार पर रुपया उधार नहीं दे सकते।

(६) किसी व्यक्ति को उसके अपनी वैयक्तिक साख (Personal Security) पर उधार धन देना राज-नियम के विरुद्ध है।

(७) उन्हीं पदार्थों पर प्रांतीय बैंक धन उधार दे सकते हैं जो उनके पास धरोहर में रख दिए गए हों।

इन कठोर नियमों के बदले में सरकार ने अपना धन बिना व्याज के प्रांतीय बैंकों में जमा करना मंजूर कर लिया।

१८६२ में प्रांतीय बैंकों का नोट निकालने का अधिकार छीन लिया गया। इस नुकसान के बदले में उनको सरकार का धन बिना व्याज पर मिल गया। १८७६ तक राजकीय संपूर्ण धन प्रांतीय बैंकों में ही जमा होता था। बहुत बार सरकार को जरूरत पड़ने पर प्रांतीय बैंकों से शीघ्र ही धन न मिला। इसका परिणाम यह हुआ कि सरकार ने अपने स्थिर कोष (Reserve Treasuries) स्थापित किए और प्रांतीय बैंकों में अपना धन अल्प मात्रा में रखना शुरू किया।

१८७६ के प्रांतीय बैंक्स एक्ट के द्वारा प्रांतीय बैंकों को हानियों के सदृश ही लाभ भी बहुत ही अधिक पहुँचा है। बंगाल बैंक इतना स्थिर न रहता यदि उसको १८७६ के राज-

नियमों के अनुसार जोखिम के कामों में प्रवेश करने से न रोका जाता। परंतु इसमें संदेह भी नहीं है कि अब उनके ऊपर से १८७६ के राजनियमों को हटा देना चाहिए। भारत में विदेशीय विनिमय में सोने के सिक्कों के चलने से अब विदेशीय विनिमय बिल के क्रय विक्रय में कुछ भी खतरा नहीं रहा। प्रांतीय बैंक लंडन तथा एशिया के अन्य भागों में अब अपनी शाखाएँ खोलना चाहते हैं और वहाँ से रुपया उधार लेना चाहते हैं और विनिमय बिल के क्रय विक्रय में भी भाग लेना चाहते हैं। परंतु अभी तक उनकी इच्छा पूरी नहीं हुई है। उनको किसी न किसी हद तक स्वतंत्रता मिलनी चाहिए। आजकल प्रांतीय बैंक भारत का अंतरीय लेनदेन नहीं करते। वे भारत तथा लंका में सकारे जानेवाले विनिमय बिलों का क्रय-विक्रय करते हैं और उनसे लाभ उठाते हैं।* (अब ये सब बैंक मिलकर एक हो गए हैं।)

यूरोपीय विनिमय बैंक्स (Exchange Banks)—विनिमय बैंक वह बड़े बड़े युरोपीय बैंक हैं जो एशिया तथा

---

* सन् १९१६ तक तीनों प्रांतीय बैंकों की स्थिति इस प्रकार थी—

	३१ दिसंबर १९०५	३१ दिसंबर १९१४	१९१६
	लाख रुपयों में	लाख रुपयों में	लाख रुपयों में
पूँजी तथा कोष	६२३	७६४	७३५
धरोहर	२५३८	४५६६	४९९१
रोकड़ नकद (cash balance)	८२३	२०८४	१७२७

भारतवर्ष में अपना कारोबार करते हैं। इन बैंकों को दो श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है।

(क) प्रथम श्रेणी के विनिमय बैंक। प्रथम श्रेणी के युरोपीय बैंकों का कारोबार भारतवर्ष में बहुत अधिक नहीं है। भारतवर्ष में अन्य एशियाटिक देशों के सदृश ही इन बैंकों की शाखा ही विद्यमान है। इनका संबंध एकमात्र भारत से ही नहीं है। जापान, अमेरिका, जर्मनी, रूस, फ्रांस आदि सभी देशों में इनकी शाखाएँ हैं। भारत में इस प्रकार कुल मिलाकर ५ बैंक हैं जिनके नाम निम्नलिखित हैं—

१—पेरिस का जातीय बैंक Comptoir National d' Escompte de Paris.

२—योकोमा स्पीसी बैंक Yokama Specie Bank.

३—दि डच-एशियाटिक बैंक The Dautsch-Asiatische Bank.

४—दी इंटर्नेशनल बैंकिंग कार्पोरेशन The International Banking Corporation.

५—दी रसो एशियाटिक बैंक The Russo-Asiatic Bank.

(ख) द्वितीय श्रेणी के विनिमय बैंक। द्वितीय श्रेणी के बैंकों का कारोबार विशेषतया भारत में ही है। इनकी शाखाएँ अन्य देशों में भी हैं, परंतु इनका मुख्य दफ़्तर भारतवर्ष में ही है। कुल मिलाकर संख्या में यह छः हैं जिनके नाम निम्नलिखित हैं।

१—दिल्ली लंडन बैंक (The Delhi and London Bank) १८४४

२—इंडिया, आस्ट्रेलिया तथा चीन का चार्टर्ड बैंक (The Chartered Bank of India, Australia and China). १८५३

३—दी नेशनल बैंक आफ् इंडिया (The National Bank of India). १८६३

४—दी हांगकांग एंड शंघाई बैंकिंग कार्पोरेशन (The Hongkong and Shanghai Banking Corporation). १९६४.

५—दी मर्कंटाइल बैंक आफ् इंडिया (The Mercantile Bank of India) १८९३.

६—दी ईस्टर्न बैंक (The Eastern Bank) १९१०.

इन बैंकों में से चार्टर्ड बैंक तथा हांगकांग एंड शंघाई बैंकिंग कार्पोरेशन का चीन में बहुत ही अधिक कारोबार है। जगह जगह पर इन्हीं की शाखाएँ मौजूद हैं। परंतु इससे उनके भारतीय कारोबार में किसी प्रकार का नुकसान नहीं पहुँचता। भारत में भी इनका बहुत बड़ा लेनदेन है। शेष चारों विनिमय बैंकों ने भारत में ही अधिक धन कमाया है और अपने हिस्सेदारों को लाभ के रूप में बहुत ही अधिक धन दिया है। दिल्ली लंडन बैंक ने अन्य बैंकों के सदृश उन्नति नहीं की है और ईस्टर्न बैंक तो अभी बाल्यावस्था में ही है।

शेष बैंकों के लाभ का अनुमान इसीसे लगाया जा सकता है कि वह अपने हिस्सेदारों को २०० प्रतिशतक से भी अधिक लाभ दे चुके हैं। यह बैंक लंडन तथा भारत से धन उधार लेते हैं और जहाँ लाभ देखते हैं, वहाँ लगाते हैं। यह बैंक स्थिर धरोहर पर साढ़े तीन से चार प्रतिशतक तक व्याज देते हैं और चलतू धरोहर (Current deposit) पर भी दो प्रतिशतक व्याज देते हैं। विदेशीय विनिमय बिलों के क्रय-विक्रय में यह बैंक स्वतंत्र हैं और इस व्यापार से बहुत बड़ा लाभ उठा रहे हैं। तारों के द्वारा लंडन तथा भारत की विनिमय बैंकों की शाखाएँ परस्पर जुड़ गई हैं। अतः किसी एक स्थान पर धरोहर में धन के कम हो जाने पर इनको कुछ भी कठिनाई नहीं झेलनी पड़ती।

(ग) मिश्रित पूँजी बैंक (Joint Stock Bank)—भारत में मिश्रित पूँजी बैंक का आरंभ अति प्राचीन है। पर पिछले १३ वर्षों से ही इन्होंने विशेष वृद्धि की है। १९१४ तथा १५ में बैंकों की कुल संख्या ५७४ थी और उनकी गृहीत पूँजी (Paid up Capital) ७९८७५५०९ थी। इसी प्रकार १९१६ में बैंकों की संख्या ४६० थी और उनकी गृहीत पूँजी ८३४०४००० थी।

बैंकों की उल्लिखित संख्या की अधिकता का एक बड़ा भारी कारण यह है कि छोटे छोटे महाजनों ने भी अपनी अपनी कोठियों का नाम बैंक रख लिया है। वास्तव में देखा जाय तो बड़े बड़े मिश्रित पूँजी-बैंक भारत में बहुत थोड़े हैं।

१८७० सन् से पहले के स्थापित हुए बड़े बड़े मिश्रित पूँजी-बैंक संख्या में केवल दो ही हैं* जिनके नाम निम्नलिखित हैं।

(१) बैंक आफ् अपर इंडिया।

(२) अलाहाबाद बैंक (आजकल पी० एंड ओ० कंपनी ने इसे खरीद लिया है। यह १८६५ में खुला था।)

सन् १८७० तथा १८९४ में ७ मिश्रित पूँजी बैंक बहुत अधिक धन से खुले थे जिनमें से निम्नलिखित तीन अब तक काम कर रहे हैं।

(१) अवध कमर्शियल बैंक (१८८१)

(२) पंजाब नेशनल बैंक (१८९४)

(३) पंजाब बैंकिंग कंपनी (१८८९)

१८९४ से १९०४ तक कोई नवीन बैंक न खुला। १९०४ में बैंक आफ् बर्मा खुला, परंतु यह १९११ में टूट गया। १९०६ में तीन बैंक और खुले जिनके नाम इस प्रकार हैं—

(१) बैंक आफ् इंडिया।

(२) बैंक आफ् रंगून।

(३) इंडियन स्पीसी बैंक।

१९०६ के बाद ५ लाख गृहीत पूँजीवाले निम्नलिखित बैंक और खुले।

---

* बड़े बड़े मिश्रित पूँजी बैंकों से तात्पर्य ५ लाख रुपया गृहीत पूँजी-वाले बैंकों से है।

(१) बंगाल नेशनल बैंक (१६०६)

(२) बांबे मर्चेन्ट्स बैंक (१६०६)

(३) क्रेडिट बैंक आफ् इंडिया (१६०६)

(४) काठियावाड़ एंड अहमदाबाद बैंकिंग कार्पोरेशन (१६१०)

(५) सेन्ट्रल बैंक आफ इंडिया (१६११)

१६१३ में बहुत बड़ी संख्या में छोटे छोटे बैंक टूट गए। इससे दरिद्र तथा मध्य श्रेणी के लोगों को बहुत ही अधिक कष्ट उठाना पड़ा। इससे कुछ समय के लिये बैंकिंग की उन्नति रुक गई। बैंकों के टूटने के निम्नलिखित कारण ये हैं—

(१) बैंकों के बहुत से डाइरेक्टर्स बैंक का काम बिलकुल ही नहीं समझते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि बैंकों का संचालन समुचित विधि पर न हुआ और बैंक टूट गए।

(२) बहुत से धोखेबाज लोगों ने धन लूटने के उद्देश्य से बैंक स्थापित किए और दरिद्र जनता का धन खाकर बैंक का दिवाला निकाल बैठे।

(३) हिसाब किताब रखने में बहुत से बैंकों ने बहुत ही अधिक असावधानी की। उधार देने में भी विश्वास पर काम किया गया। उचित तो यह था कि उधार देते समय किसी की संपत्ति तथा स्थिर पूँजी (Security) की पूर्ण रूप से आलोचना कर ली जाती।

(४) बैंकों का बहुत सा धन ऐसे स्थानों पर लगा दिया गया था जहाँ से कि वह शीघ्रता से न निकाला जा सकता था।

(५) बहुत से बैंकों के प्रबंधकर्त्ताओं ने जोखिम के काम करना शुरू किया। उन्होंने व्यापार व्यवसाय के कामों में बैंक का धन लगा दिया।

(६) बहुत बार गृहीत पूँजी से हिस्सेदारों को लाभ बाँट दिया गया और इस बात को जनता के सामने न रखा गया।

बैंकों के टूटने से भारतीयों को उचित शिक्षा मिली है। यही कारण है कि महायुद्ध के समय में बैंकवालों ने बहुत सावधानी से काम किया। यह होते हुए भी भविष्य में ऐसी भयंकर घटनाओं से जनता को बचाने के लिये बैंकों के संबंध में निम्नलिखित बाधाएँ डालना आवश्यक समझा गया है—

(१) बैंक के खोलने के लिये गृहीत पूँजी की अल्पतम राशि नियत हो जानी चाहिए।

(२) बैंक खुलने के बाद नियत समय के बीच में नियत धन की राशि बैंकों को इकट्ठा कर लेनी चाहिए।

(३) स्थिर-कोष में पर्य्याप्त अधिक धन-राशि एकत्र होने से पूर्व तक बैंकों को इस बात से रोका जाय कि वह हिस्सेदारों को लाभ न बाँटें।

(४) बैंकों को जोखिम तथा सट्टे के कामों से रोका जाय।

उल्लिखित सुधार बैंकों के संबंध में होने चाहिएँ। परंतु सुधार करने में भी सावधानी की जरूरत है। क्योंकि यह भी संभव है कि साधारण सी भूल से देश में बैंकिंग की उन्नति रुक जाय। आजकल कर्नानी, कलकत्ता तथा ताता नामी तीन इंडस्ट्रियल बैंक खुले हैं। ताता का काम सराहनीय है, इसमें कुछ भी संदेह नहीं है।

लड़ाई खतम होने के बाद साम्राज्य संघटन की ओर अँग्रेजों का ध्यान गया। लड़ाई में जो जो कठिनाइयाँ शिथिल संघटन के कारण उनको झेलनी पड़ीं, उनसे भी उनको शिक्षा मिली। इसका परिणाम यह हुआ कि भारत सरकार ने आर्थिक दृष्टि से अपने आपको मजबूत करने का इरादा किया और कुछ एक आर्थिक क्षेत्रों में अपना हस्तक्षेप बढ़ाना चाहा। आर्थिक संकट में बैंकों के द्वारा पर्य्याप्त अधिक सहायता मिलती है। बसरा आदि स्थानों पर जो प्रभुत्व प्राप्त हुआ है, उसको सुरक्षित रखने के लिये भी अर्थ की जरूरत है। इसी प्रकार अनेक तत्व हैं जिनसे प्रेरित होकर सरकार ने आजकल तीनों प्रांतीय बैंकों को संमिश्रित कर इंपीरियल बैंक की नींव रखी है। स्थान स्थान पर उसकी शाखाओं के खोलने का भी प्रबंध किया है। नोट का विभाग तथा खजाना इसके हाथ में किस सीमा तक रहेगा, अभी तक यह पूर्ण-रूप से स्पष्ट नहीं है। जातीय बैंकों से यह कहाँ तक स्पर्धा करेगा और कहाँ तक उनके कामों में साथ

देगा, इसके विषय में भी अभी से कुछ भी नहीं कहा जा सकता। आशा है कि समय के गुजरने के साथ साथ वास्तविक स्थिति पूर्ण रूप से स्पष्ट हो जायगी।

शब्द-सूची

भार मुद्रा प्रणाली	Currency by weight.
राज्यांकित मुद्रा प्रणाली	Unrestricted Currency by tale.
एक धातवीय प्रामाणिक मुद्रा-प्रणाली	Single legal tender system.
बहुधातवीय प्रामाणिक मुद्रा प्रणाली	Multiple legal tender system.
सम्मिलित प्रामाणिक मुद्रा-प्रणाली	Composit legel tender system.
पत्रमुद्रा	Paper money.
प्रतिनिधि पत्रमुद्रा	Representative paper money.
साख आश्रित पत्रमुद्रा	Fidaciary paper money.
कल्पित पत्रमुद्रा	Fiat paper money.
कोश प्रवेश्य मुद्रा	Legal tender money.
प्रामाणिक मुद्रा	Legal tender money.
द्रव्यमापक	The Commodity Standard.

श्रममापक	The labour standard.
कष्टमापक	The disutility standard
उपयोगिता मापक	The total utility standard.
अनेक द्रव्यमापक विधि	Tabular standard.
श्रम-समयमापक	The labour-time standard
श्रम-व्ययमापक	The labour-cost standard
श्रम अनुपयोगिता मापक	The disutility of labour standard.
सीमांतिक उपयोगिता मापक	The marginal standard.
उपयोगिता मापक	The total utility standard.
माँग	Demand.
उपलब्धि	Supply.
मुद्रा की क्रय शक्ति	Purchasing power of money.
चिरकालीन लेनदेन	Deffered payments.
मध्यमा	Average.
आंकिक मध्यमा	Arithmetical average.
ज्यामितिक मध्यमा	Geometrical average.
चिरकालीन व्यवहार साधक	Standard of deffered payment

संवादिक मध्यमा	Harmonical average.
सरल मध्यमा	Simple average.
विषम मध्यमा	Weighted average.
भ्रमण	Circulation.
भ्रमण की तीक्ष्णता	Rapidity of Circulationi.
सीमांतिक उपयोगिता	Marginal Utilty.
लगान	Rent.
भृति	Wage.
मूल्य धारक	Store of Value.
मूल्य-मापक	Measure of Value.
प्रलंबकालीन व्यवहार साधक	Standard of deffered payments.
सट्टा	Speculation.
द्विधातवीय मुद्राविधि	Bimetallism.
क्रेतावशेष मापक-विधि	The purchaser's surplus Standard.
सीमांतिक क्रेता	Marginal purchaser.
क्रेता	Purchaser.
स्पर्धा-मय बाजार	Competitive market.
उपयोगिता	Utility.
बिन्दुमय रेखा	Dotted line.
अवशिष्ट उपयोगिता	Surplus utility.

वैयक्तिक साख	Personal security.
विनिमय बैंक	Exchange Bank.
प्रांतीय बैंक	Presidency Bank.
धरोहर	Deposit.
नीवी	Balance.
चलतू धरोहर	Current deposit.
स्थिर धरोहर	Fixed deposit.
गृहीत पूँजी	Paid up capital.
विनिमय	Exchange.
साख	Credit.
संशोधक गृह	Clearing House.
श्रम विभाग	Division of labour.
विनिमय प्रणाली	Mechanism of exchange
विनिमय के साधक	Means of exchange.
मूल्य का प्रकाशक	Measure of value.
वस्तु विनिमय	Barter.
विनिमय का माध्यम	Medium of exchange.
मुद्रा	Money or coin.
व्ययानुकूल (मुद्रानिर्माण)	Brassage.
कृपान्वित (मुद्रा निर्माण)	Gratuitous.
परिमित (मुद्रा निर्माण)	Limited.
लाभानुकूल (मुद्रा निर्माण)	Seigniorage.

साधक पदार्थ	Instrumental goods.
प्रत्यक्ष भोग योग्य पदार्थ	Goods of direct consuma. tion.
मुद्रा या मौद्रिक पदार्थ	Currency.
व्यवहारगत मुद्रा	Circulating medium.
साधारण व्यवहार का माध्यम	The medium of general circulation.
धातविक मुद्रा	Metallic money.
अपरिवर्तनशील पत्रमुद्रा	Inconvertible paper money.
विशेष व्यवहार का माध्यम	The medium of restricted circulation.
मुद्रा प्रचार	Circulation of money of currency.
नष्ट मूल्य पत्रमुद्रा	Depreciated paper money
व्यवहार साध्य पूँजीपत्र	Negotiable securities.
विनिमय बिल	Bill of exchange.
मुख्य या प्रामाणिक मुद्रा	Standard money.
आधार मुद्रा	Money of account.
चलतू मुद्रा	Current money.
शेयर बाजार	Share market.

देवीप्रसाद ऐतिहासिक पुस्तकमाला

(३) सुलेमान सौदागर।

यह फारस के ऐसे मुसलमान सौदागर का यात्रा-विवरण है जिसके विषय में बड़े बड़े इतिहासज्ञों का मत है कि यह पहला मुसलमान यात्री था जो भारत में आया था और यहाँ से होता हुआ चीन गया था। यह नवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में भारत में आया था और यहाँ का आँखों-देखा हाल लिखकर ले गया था। इसका मूल ग्रंथ १८११ में फ्रांस में छपा था; और इसका एक अंगरेजी अनुवाद १७३३ में लंडन में प्रकाशित हुआ था। ये दोनों ग्रंथ बड़ी कठिनता से प्राप्त करके मूल अरबी से यह अनुवाद किया गया है और स्थान स्थान पर अँगरेजी अनुवाद से मिलान भी किया गया है। इससे नवीं शताब्दी के भारत और चीन की अनेक बातों और रीति-रिवाजों आदि का पता लगता है। पुस्तक इतिहास-प्रेमियों के बड़े काम की है। मूल्य १।)

(४) अशोक की धर्मलिपियाँ, पहला भाग। इसमें प्रधान शिलालेखों की प्रतिलिपि, संस्कृत तथा हिंदी अनुवाद और टिप्पणियाँ दी गई हैं। अशोक की धर्मलिपियों का ऐसा अच्छा दूसरा संस्करण अभी कहीं नहीं निकला। मूल्य ३)

प्राचीन भाषा-काव्य

प्रेमसागर

नागरीप्रचारिणी ग्रंथमाला की २७ वीं पुस्तक

प्रेमसागर प्रसिद्ध ग्रंथ है और इसके अनेक संस्करण बाज़ार में मिलते हैं। परंतु उनमें संशोधित और संस्कृत शब्दों की भरमार है। यह संस्करण सं० १८१० ई० की प्रति के आधार पर तैयार किया गया है जिसे ग्रंथकर्त्ता ने स्वयं अपने संस्कृत प्रेस, कलकत्ते में छपाया था। इसकी भूमिका में लल्लूलालजी का जीवनचरित्र और हिंदी गद्यसाहित्य का इतिहास भी दिया गया है। कृष्ण-कथा होने के कारण हिंदी के प्रत्येक प्रेमी और भगवद्भक्त को यह ग्रंथ अपने घर में रखना चाहिए। सुंदर चिकने कागज पर और मजबूत जिल्द सहित। पृष्ठ संख्या साढ़े चार सौ के लगभग। मूल्य २) रु०।

खुसरो की हिंदी कविता

इसमें खुसरो को समस्त हिंदी कविता का संग्रह है। मूल्य ॥) डाक व्यय अलग।

तुलसी ग्रंथावली

तीन खंडों में।

पहले खंड में रामचरित मानस और गोस्वामी जी का चित्र; दूसरे खंड में रामलला नहछू, वैराग्य संदीपनी, बरवै रामायण, पार्वती मंगल, जानकी मंगल, रामाज्ञा-प्रश्न, दोहावली, कवितावली, गीतावली, श्रीकृष्णगीतावली और विनय पत्रिका; तथा तीसरे खंड में गोस्वामी तुलसीदास जी के संबंध के लेख, उनकी जीवनी तथा उनके ग्रन्थों की विस्तृत और गवेषणापूर्ण आलोचना है।

प्रत्येक खंड का मूल्य २॥) रु०। तीनों खंड एक साथ लेने में ६)

मिलने का पता—
मंत्री, नागरीप्रचारिणी सभा,
बनारस सिटी।